हिन्दी गीता

श्रीमद्भगवद्गीता का संस्कृत से हिन्दी छन्दों में अनुवाद, मूल श्लोकों सहित

काव्यानुवाद

पं. गोविंद मकरंद दुबे

साहित्यिक उपक्रम

पाथेय प्रकाशन, जबलपुर म.प्र.

ISBN : 978-93-92850-77-6

हिन्दी गीता
(श्रीमद्भगवद्गीता का संस्कृत से हिंदी में अनुवाद)

- काव्यानुवादक
  पं. गोविंद मकरंद दुबे
- प्रकाशन
  डॉ. राजकुमार सुमित्र
  पाथेय प्रकाशन
  112, सराफा वार्ड, जबलपुर
  मो. : 93001 21702
- सर्वाधिकार
  पं. गोविंद मकरंद दुबे
  एम.आई.जी. 17, हाऊसिंग बोर्ड कालोनी,
  कटंगा, जबलपुर (म.प्र.)
  मो. : 94251 52599
- प्रथम संस्करण
  2023
- अक्षर संयोजन
  मारबल कम्प्यूटर
  जबलपुर, मो. : 94254 10833
- मुखपृष्ठ
  श्री घनश्याम पटेल
- रेखांकन
  कु. यशिता वाजपेयी
- मुद्रक
  ओम आफसेट प्रिंटर्स
  बल्देवबाग, जबलपुर
- मूल्य
  अमूल्य है इसलिए मूल्य नहीं

निवेदन : प्रकाशन में अत्यन्त सावधानी रखी गई है फिर भी यदि कोई मानवीय त्रुटि दिखाई दे, तो क्षमा करते हुए रचनाकार को सूचित करने की कृपा करें। इसके साथ ही संशोधनों, सुझावों और सम्मतियों का भी स्वागत है। अगले प्रकाशन में सुझावों/संशोधनों का समावेश किया जायेगा और योग्य सम्मतियों का सचित्र प्रकाशन भी किया जायेगा। - प्रकाशक

स्मृति–शेष श्रीमती राजश्री दुबे

॥ जन्म कर्म हैं दिव्य तत्वतः ॥
॥ जो जन इसे जान पाये ॥
॥ वह तज देह न जन्मे फिर से ॥
॥ मुझमें, पार्थ! समा जाये ॥

हिंदी गीता – 4: 9

शुभकामना एवं शुभ आशीर्वाद

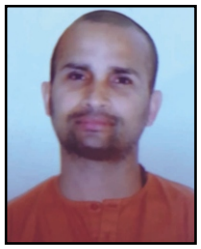

सन्यासी स्वामी देवभक्तानंद

दिव्यजीवन संघ आश्रम, ऋषिकेश

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः। ॐ नमो भगवते वासुदेवाय॥

श्रीमद्भगवद्गीता हम सभी के जीवन का आधार है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं अपने श्रीमुख से अर्जुन को माध्यम बनाकर हम सभी साधकों को और सम्पूर्ण मानव समाज को कर्म, धर्म, ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य का रहस्य बताया गया है। इसलिए गीता जी को पढ़ना, वैसा ही है जैसे दर्पण में स्वयं का स्वरूप देखना। जिस तरह दर्पण में हम स्वयं का भौतिक स्वरूप देख सकते हैं, वैसे ही गीता जी में हम अपना आध्यात्मिक स्वरूप देख सकते हैं। इसीलिए गीताजी के संबंध में गीता महात्म्य में कहा गया है –

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तारैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुख पद्माद्विनिःसृताः॥

इसी तरह भगवान आदि शंकराचार्य जी ने भी अपने ''भज गोविंदम्'' स्तोत्र में लिखा है कि –

भगवद्गीता किञ्चिद् धीता। गंगाजललव कणिकापीता॥
सकृदपि येन मुरारि समर्चा। क्रियते तस्य यमेन न चर्चा॥

तात्पर्य यह कि जिसने श्रीमद्भगवद्गीता को थोड़ा-सा भी पढ़ा है, जिसने गंगाजल का थोड़ा-सा भी पान किया है और जिसका सिर एक बार भी भगवान के समक्ष झुका है, ऐसे भक्तों की चर्चा करने की शक्ति यमराज में नहीं है। स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता सभी मनुष्यों के लिए ज्ञानदाता, भक्तिदाता और मुक्तिदाता भी

है। किंतु भगवान ने गीता का उपदेश संस्कृत भाषा में दिया है और संस्कृत नहीं जानने वाले साधारण पाठकों को संस्कृत समझना तो दूर, पढ़ना भी कठिनाई भरा होता है। उल्लेखनीय है कि गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा प्रारंभ में श्रीरामचरित मानस की रचना संस्कृत भाषा में ही की जा रही थी और जो पद लिखकर वे विश्वनाथ मंदिर में शाम को रखते थे, प्रातः काल तक वे मिट जाते थे। इससे गोस्वमी तुलसीदास जी बहुत चिंतित थे कि ऐसा होता रहा तो उनकी रचना पूर्ण कैसे होगी ? कहा जाता है कि भगवान शिव विश्वनाथ ने उन्हें स्वप्न में संस्कृत भाषा की बजाय अवधी भाषा में रचना करने की प्रेरणा दी, ताकि जन-साधारण आसानी से उसे समझ सकें। अवधी भाषा में लिखे इस ग्रंथ श्रीरामचरित मानस का इतना प्रचार-प्रसार हुआ कि श्रीरामचरित मानस घर-घर में पढ़ी जाने लगी। जन-सामान्य के लिए बोधगम्य भाषा में रामायण लिखने के लिए हम सभी उनके ऋणी हैं। इस ऋण से उऋण होने के लिए इस ग्रंथ का पठन-पाठन ही एक मात्र उपाय है।

इसी तरह का भाव, यह श्रीमद्भगवद्गीता का नित्य पठन-पाठन करने वाले गोविंद दुबे जी के मन में भी आया कि संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों को गीताजी को पढ़ने और समझने में कठिनाई हो रही, इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता का भाव सहित हिंदी में छंदबद्ध रूप में रूपांतरण किया जावे। इसी भाव के अनुरूप उन्होंने गीता जी का सरल से सरल हिंदी भाषा में छंदबद्ध रूप में अनुवाद किया है, जो सराहनीय है। यह रचना गोविंद दुबे जी के लिए तो ईश्वरीय वरदान है ही, संस्कृत पढ़ने में असमर्थ लोगों के लिए भी श्रेष्ठतम ईश्वरीय उपहार है। जो सज्जन लोग होते हैं, उनका भाव हमेशा बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय का होता है। इसी भाव के साथ गोविंद दुबे जी ने जो हिंदी भाषा में गीता की रचना की है, वह प्रशंसा योग्य है। भगवान करे सभी मनुष्य, विशेष कर संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं रखने वाले लोग, संस्कृत से भाव सहित हिंदी में छन्दबद्ध रूप में रूपांतरित 'हिंदी गीता' को पढ़कर लाभान्वित हों और गीता में बताये गये मार्ग पर चल कर कल्याण को प्राप्त हों।

भगवान करे गोविंद दुबे जी महाराज को ईश्वर ऐसी ही सद्प्रेरणा देते रहें एवं वे ऐसे ही सत्कर्म करते रहें। भगवान एवं गुरुदेव का शुभ आशीर्वाद उन पर सदा बना रहे, ऐसी मेरी मंगल कामना है।

स्वामी देवभक्तानंद

प्रो. सत्य मोहन वर्मा
पूर्व प्राचार्य एवं शिक्षा निदेशक
डॉ. विजय लाल स्मृति महाविद्यालय

वर्मा निवास, असाटी वार्ड नं. 1,
दमोह (म.प्र.) - 470 661

मंगलम्

भारतीय जन जीवन के ऐसे दो प्रेरक ग्रंथ हैं, जिनने समस्त विश्व के साहित्य एवं संस्कृति को प्रभावित किया है। एक श्रीरामचरितमानस और दूसरा श्रीमद्भगवद्गीता। गीता को अनादि और सर्वकालिक संगीत-सनातन की उपमा से विभूषित किया जाता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि भागवत् चेतना को अभिव्यक्त करना ही मानव जीवन का आधार मूल्य है। गीता में व्यक्त अवधारणाओं को मनुष्य के मर्म तक पहुँचाने के लिये उसके अनेक अनुवाद समय-समय पर अनेक कवियों और विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो मूल की अपेक्षा भी अधिक क्लिष्ट हैं। प्रश्न यह है कि क्या ऐसे रूपान्तरण सार्थक हैं ? मेरा अपना मत है कि रचना कोई भी हो लेकिन वह प्रासंगिक होनी चाहिए और श्रोता या पाठक को सहजता से समझ में आनी चाहिए अर्थात वह संप्रेषणीय हो। गीता की प्रासंगिकता तो कालातीत है पर आवश्यक यह है कि उसका अनुवाद भी इतना सरल और सहज हो कि वह सामान्य जन को भी ग्राह्य हो।

श्रीयुत गोविंद दुबे 'मकरन्द' जन्मजात कवि हैं और कविता पर उनकी पकड़ का मैं प्रारंभ से ही प्रशंसक रहा हूँ। साठ-सत्तर के दशक में उनकी कवितायें आनंदित व उद्वेलित करती थीं। मकरन्द जी ने गीता का जो अनुवाद किया है उसे पढ़कर मुझे बच्चन जी द्वारा अनूदित 'जनगीता' का स्मरण हो आया। सच तो यह है कि 'जनगीता' को पढ़कर ही मुझे गीता थोड़ी बहुत समझ में आई थी। मकरन्द जी के अनुवाद को बाँचकर फिर उसी अनुभूति में से गुजरने का अवसर प्राप्त हुआ। रचना प्रक्रिया में जो परिश्रम होता है वह

व्यर्थ न हो वही उस कृति को सार्थक सिद्ध करता है। अनुवाद में मूल की आत्मा का हनन नहीं होना चाहिए। मैं इसे अनुवाद की प्राथमिक अनिवार्यता मानता हूँ, मकरन्द जी ने इसे विस्मृत नहीं किया यह सराहनीय है। एक बानगी यहाँ प्रस्तुत है :

जब-जब घटता धर्म, पाप को पग पसारते पाता हूँ।
तब-तब अर्जुन! मैं अपना, साकार स्वरूप सजाता हूँ॥ ४/७॥

दुष्टों का करने विनाश, सत्पुरुषों का दुख हरने को।
युग-युग, मैं प्रकटित होता हूँ, धर्म संस्थित करने को॥ ४/८॥

मकरन्द जी का यह प्रयास सर्वथा सफल और सराहनीय होगा, इसके प्रति मैं आश्वस्त हूँ। आज जबकि हमारे देश में धर्मान्धता अनियंत्रित हो गई है, गीता जैसे मूल्यवन्त विचार का प्रसारण और अधिक आवश्यक तथा अनिवार्य हो गया है। इस दिशा में यह सारगर्भित अनुवाद निश्चित ही अपनी महती भूमिका का निर्वाह करेगा।

मैं 'मकरन्द' जी के इस अनुष्ठान की हृदय से सराहना करता हूँ और मुझे पूर्ण विश्वास है, कि इसे अधिक से अधिक पढ़ा और समझा जायेगा। मकरन्द जी ने इसे हमें प्रदान कर अपनी लेखनी का सर्वोत्तम उपयोग किया है। मैं 'हिन्दी गीता' की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए अपनी मंगल कामनायें समर्पित करता हूँ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहां हैं, अर्जुन जहां धनुर्धारी।
मेरा मत, श्री, विजय वहां, दृढ़ नीति, विभूति वहीं सारी॥ १८/७८॥

अनन्त शुभेच्छाओं सहित

रंगोत्सव 2023

(सत्य मोहन वर्मा)

फोन : (07812) 228725 (कार्या.), 221599 (निवास), मो. : 94250 28620

डॉ. श्याम सुंदर दुबे
पूर्व निदेशक मुक्तिबोध सृजनपीठ,
सागर विश्वविद्यालय

चंडीजी वार्ड, हटा,
जिला दमोह (म.प्र.)

सहज संप्रेष्य काव्यानुवाद

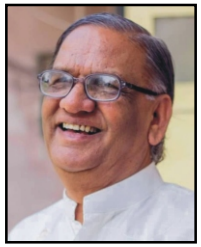

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय जीवन पद्धति, भारतीय मनीषा और भारतीय दर्शन का अद्भुत ग्रंथ है। यह मानव मात्र के श्रेय और प्रेय का उपस्कारक आख्यान है। युद्धभूमि के मध्य, उस समय जब पाण्डवों और कौरवों की सेनायें युद्धोन्मुख थीं, जब श्री कृष्ण ने जीवन प्रबंधन का जो उपदेश दिया था, वह विश्व पटल पर अद्वितीय है। इस ग्रंथ के अनेक भाष्य और अनेक अनुवाद किए गए हैं। एक तरह से गीता के मर्म को जानने-समझने और उसे हृदयंगम करने तथा जीवन में उतारने का महत प्रयास, अनेक विभूतियों ने किया है। इस ग्रंथ के अनेक काव्यानुवाद भी किए गए हैं। दोहा, चौपाई, कुंडलिया, बरवै, कवित्त और सवैया जैसे छंदों के साथ, इसे आल्हा के वीर छंद में भी भावांतरित किया गया है। ये समस्त उपक्रम केवल इसलिए संभव हुए कि लिखने, पढ़ने वाले वर्ग के कवि समुदाय ने यह अनुभव किया कि गीता को सहजता पूर्वक समझा जा सके। जिस ग्रंथ में इसका उल्था किया गया वह भी कुछ जटिल सा है, और सामान्य पाठक के बस का नहीं है। अत: कविता जैसे सरस माध्यम में इसे ढाल कर अपनी बोली में बानी में प्रस्तुत करने यह कवि संकल्प, लोक हितकारी संकल्प रहा है।

गोविंद दुबे 'मकरंद' की कवि प्रतिभा जन्मजात है - वे कमवय में भी अच्छी कविताओं को रचने लगे थे, और वे अपने इस काव्य उद्यम में लोकप्रिय भी थे। एक अंतराल तक उनका कवि मौन और अमुखर रहा, ऐसा इसलिए कि कम से कम मुझे उनकी रचनायें, इस बीच देखने नहीं मिलीं। उनके द्वारा किया गया गीता का यह काव्यनुवाद जब मेरे पास आया तो मुझे प्रसन्नता हुई और

लगा कि मकरंद जी, पिछले समय में चुपचाप ऐसा करते रहे हैं, जो आत्मशांति और लोकोपकारी चिंतन से प्रसूत प्रसंग है।

उन्होंने अपने अनुवाद में इस तथ्य का पूरा ध्यान रखा है कि वे मूल विषय से भटकें नहीं। इसीलिए उन्होंने अपनी कल्पनाशीलता की प्रतिभा को इस दिव्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं दिया। संभवत: वे जानते हैं कि गीता, कविता मात्र नहीं है। यह कर्म, ज्ञान और भक्ति के साथ जीवन की व्याख्या तो है ही, जीवन को सार्थक बनाने वाली प्रणाली की दार्शनिक प्रपत्तियों की परावाणी की अनुनादी गीतिका भी है। अत: उसके कथनों और उद्गारों को जस का तस सहज और संप्रेष्य भाषा में उतारना ही उनका इष्ट-साध्य रहा है। विराट के मुख से नि:सृत इस ग्रंथ में उन्होंने अनुवादक की सहज सीमाओं में रहकर भी अपनी काव्य प्रतिभा से रचना को काव्य के सुगठित बंधन में बांधने में जो रचना-कौशल दिखाया है, वह प्रशंसनीय है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहां तक संभव हो सका है, उन्होंने गीता की शब्दावली का ही अपने अनुवाद में प्रयोग किया है। यहां तक कि कारक-क्रिया को अपनी तरफ से तब तक नहीं बदला, जब तक कि छन्द को साधने में कोई दिक्कत न आई हो। यही वजह है कि अनुवाद मूल गंतव्यों में हेरफेर नहीं करता है। गूढ़ रहस्यों को खोलने और आत्मसातीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए अनुवादक के पास काव्यलय का बड़ा संबल रहता है। लय कभी-कभी छिपे हुए अर्थ को भी खोलती है और पाठक को रमाने का जरिया बन जाती है। अपने अनुवादित छन्दों में मकरंद जी ने इस तथ्य का भी ध्यान रखा है कि काव्य-सौष्ठव मूल भाव भूमि से विचलित नहीं होने पाये और छन्द की गेयता भी अप्रभावित रहे। इसीलिए मुझे पूर्ण आशा है कि गीता का यह काव्यानुवाद पाठकों के मन मस्तिष्क एवं आत्मा तक गीता के मर्म को पहुंचायेगा। इस प्रकाशन का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ और इसके उद्देश्य की सफलता के लिए अनंत शुभकामानाएं प्रेषित करता हूँ।

(डॉ. श्याम सुंदर दुबे)

और एक प्रतिक्रिया विदेश से भी .....

पिछले कई वर्षों से मैंने, और शायद हम सभी ने, अपने बुजुर्गों को श्रीमद्भगवद्गीता का श्रद्धा के साथ वाचन करते देखा है। पारिवारिक संस्कारों के चलते हमारी नई पीढ़ी भी गीता की ओर आकर्षित हुई किंतु संस्कृत भाषा के क्लिष्ट श्लोकों के कारण हमें इसे पढ़ने में तो कठिनाई हुई ही, श्लोकों के विस्तृत अर्थ भी हमारे मन-मस्तिष्क तक नहीं पहुंच पाये। परिणामत: श्रीमद्भगवद्गीता हमारे लिए केवल श्रद्धा की वस्तु बनकर रह गई।

जनसाधारण के लिए श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान, कुछ आधे-अधूरे लोकप्रिय श्लोकों तक ही सीमित रहा है। जैसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', 'यदा यदा हि धर्मस्य' और 'नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि'। मेरी दृष्टि में गीता का ज्ञान संस्कृत में वर्णित होने से एक कठोर ग्लेशियर की तरह रहा है, जिसे सरल हिंदी में छंद-युक्त प्रवाहमान गंगा की धारा के रूप में परिवर्तित करना जनहित में आवश्यक था। जिससे कि जन सामान्य पाठकगण अपनी ज्ञान की प्यास बुझा सकें।

पूजनीय दादाजी द्वारा रचित 'हिंदी गीता' को मैंने आद्योपांत पढ़ा है तथा अन्य साथियों को भी पीडीएफ दिया है। सभी का मत है कि यह अत्यंत सरल हिंदी में लिखी गई है तथा सहजता से समझ में आती है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भविष्य में न केवल बुजुर्ग, बच्चे भी सरलता से 'हिंदी गीता' को पढ़ सकेंगे, स्मरण कर सकेंगे तथा गीता का गान भी कर सकेंगे। मुझे लगता है दादा जी ठीक ही कहते हैं कि उन पर भगवान की सीधी कृपा है, जो वे इस उम्र में विपरीत परिस्थितियों के बीच भी, इस महान ग्रंथ का अनुवाद कर पाये।

Vineet

इंजी. विनीत दुबे

रिचमंड, वर्जीनिया, यूएसए

आमुख

मुझे सुखद आश्चर्य है कि श्रीमद्भगवद्गीता जैसे विश्व के महानतम ग्रंथ - जिस पर आदि शंकराचार्य और संत विनोबा भावे जैसे कई संतों ने टीकाएं की हों, बाल गंगाधर तिलक एवं महात्मा गांधी जैसे कई विचारकों ने व्याख्यायें लिखी हों, श्री दीनानाथ दिनेश एवं श्री हरिवंशराय बच्चन जैसे कई कवियों ने काव्यानुवाद किए हों और विश्व की लगभग हर भाषा में जिसके अनुवाद हुए हों, उसका सरल हिंदी छंदों में अनुवाद करने का अवसर मुझ अकिंचन को मिला।

मुझे लगता है जीवन के प्रारंभिक काल में, गीता के श्लोकों को कंठस्थ करने की बाल सुलभ कोशिशों, संस्कृत भाषा के अध्ययन के मिले अवसरों, काव्य विधा के प्रति अदम्य आकर्षण और धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन की परिस्थितियों में बना संस्कारों का बीज, 55 वर्ष तक मस्तिष्क में दबा रहा, जबकि शरीर, जीवकोपार्जन हेतु, पत्रकारिता, शासकीय सेवा और सेवानिवृति के पश्चात अधिवक्ता के व्यवसाय में लगा रहा। पर जैसे ही जीवनसंगनी की दीर्घ अस्वस्थता एवं निधन ने मस्तिष्क को आंदोलित किया उससे अध्यात्म का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। इसे पूर्व संस्कारों ने पुष्पित-पल्लवित किया तथा प्रभु की कृपा के फलस्वरूप 'हिंदी गीता' की रचना संभव हुई। गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं :-

कार्य न जो तू करना चाहे, पार्थ! मोह में फंस करके।
वह, स्वभावगत कर्म बंध, करवा लेगा परवश करके॥ हिंदी गीता १८/६०॥

बैठ हृदय में सभी प्राणियों के, ईश्वर निज माया से।
पार्थ! यंत्रवत भ्रमण कराता, सब जीवों को काया से॥ हिंदी गीता १८/६१॥

'हिंदी गीता' की रचना के दौरान विभिन्न टीकाओं के अध्ययन का अवसर भी मिला और संशय की स्थिति में स्वामी रामसुखदास जी की 'साधक संजीवनी' ने अनुवाद को प्रामाणिक बनाया। मैं उन सभी पूर्ववर्ती रचनाकारों और चिंतकों का हृदय से आभार व्यक्त करते हुए, आप सुधी पाठकों से विनम्र अनुरोध करता हूँ कि आप अपनी सम्मति से तो अवगत कराये ही, त्रुटियों को भी नि:संकोच बतायें।

'हिंदी गीता' के पुस्तकाकार प्रकाशन के सूत्रधार तो मेरे अनुज श्री गोपाल प्रसाद दुबे हैं ही, उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन से मेरा उत्साह बना रहा। अब इस 'हिंदी गीता' का वाचन यूट्यूब जैसे सोशल मीडिया पर भी उपलब्ध कराया जा रहा है।

और अंत में यह कि 'हिंदी गीता' में मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है प्रभु का ही है और उन्हीं की कृपा से है। आशा है आप पाठकगण भी इसे प्रभु का प्रसाद समझ कर ग्रहण करेंगे।

(गोविंद मकरन्द दुबे)

अनुक्रमणिका

अध्याय क्रमांक	विषय वस्तु	पृष्ठ
1.	अर्जुन विषाद योग	14
2.	सांख्य योग	28
3.	कर्म योग	48
4.	ज्ञान-कर्म-सन्यास योग	60
5.	कर्म-सन्यास योग	72
6.	आत्म-संयम योग	80
7.	ज्ञान विज्ञान योग	94
8.	अक्षर ब्रह्म योग	102
9.	राजविद्या योग	110
10.	विभूति योग	120
11.	विश्वरूप दर्शन योग	132
12.	भक्ति योग	154
13.	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग	160
14.	गुणत्रय विभाग योग	170
15.	पुरुषोत्तम योग	178
16.	देवासुर सम्पदा विभाग योग	184
17.	श्रद्धा त्रय विभाग योग	190
18.	मोक्ष सन्यास योग	198

गीता-सार

1. प्रथम भाग में स्वजनों को युद्ध के लिए उद्यत पाकर।
शोकित पार्थ शस्त्र तज, रथ में पीछे बैठ गए जाकर॥

2. भाग दूसरा कहे, आत्मा कटती और न जलती है।
है अधिकार कर्म पर, फल की इच्छा कभी न फलती है॥

3. भाग तृतीय बताता है, निज धर्म श्रेष्ठतर होता है।
पालन में स्वधर्म के मरना भी श्रेयस्कर होता है॥

4. भाग चतुर्थ कहे, प्रभु युग-युग में, साकार रूप धरते।
दुष्टों का कर नाश, धर्म को फिर से स्थापित करते॥

5. पंचम भाग बताता, कर्म योग अपनाना हितकारी।
साधन में है सुगम, इसलिए सांख्य योग पर है भारी॥

6. छटवां भाग, आत्मसंयम की महिमा को बतालाता है।
मन पर यदि अनुशासन हो तो, योग सहज हो जाता है॥

7. सप्तम भाग बताता, प्रभु को ज्ञानी सबसे प्यारा है।
प्रेमभाव से नित्य युक्त, जिसका बस भक्ति सहारा है॥

8. अष्टम भाग कहे, जो प्रभु को भजते हुए देह त्यागे।
प्रभु देते हैं उस प्राणी को, अपना लोक बिन मांगे॥

9. नवम् भाग कहता, जो प्रभु पर निर्भर, कष्ट सहन करते।
उस प्राणी का सारा योग क्षेम, प्रभु स्वयं वहन करते॥

10. दशम भाग में प्रभु ने निज विभूतियों को बतलाया है।
संसृति में जो श्रेष्ठ, सभी में उनका अंश समाया है॥

11. एकादश अध्याय दिखाता विश्वरूप विस्मयकारी।
दिखे, समाते भीष्म-द्रोण, प्रभु के मुख में बारी-बारी॥

12. बारहवें भाग में बतायी गई, भक्ति की उत्तमता।
ममता त्यागी भक्त श्रेष्ठ, जिसको दुख-सुख में हो समता॥

13. भाग त्रयोदश, क्षेत्र-प्रकृति को, प्रभु को क्षेत्रज्ञ कहता।
जीव आत्मा बन परमेश्वर सभी प्राणियों में रहता॥

14. भाग चतुर्दश में, सत-रज-तम का विस्तृत वर्णन आया।
त्रिगुणात्मक माया से बचने का उपाय भी बतलाया॥

15. पन्द्रहवां अध्याय, परम प्रभु को पुरुषोत्तम बतलाये।
करने पोषण-भरण सभी का, जो सब लोकों में जाये॥

16. सोलहवें भाग में, नर्क के तीन द्वार का विवरण है।
ये हैं, काम, क्रोध, अतिलालच, सभी पतन का कारण है॥

17. सत्रहवां अध्याय, ॐ तत् सत् का अर्थ बताता है।
ॐ स्वयं प्रभु, तत् सब उनका, सत् शुभ कर्म कराता है॥

18. कहता अंतिम भाग, जहाँ श्री कृष्ण धनंजय धनुधारी।
होती वहीं विजयश्री, होती वही विभूति नीति सारी॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

पहला अध्याय

संजय से धृतराष्ट्र पूछते, एकत्रित युद्ध के लिए।
धर्मधरा कुरु भू में, क्या पाण्डव, क्या मेरे पुत्र किए ?॥ १॥

संजय बोले - पाण्डव सेना, खड़ी व्यूह की रचना कर।
देख उसे, आचार्य द्रोण से, बोले दुर्योधन जाकर॥ २॥

देख रहे आचार्य! पाण्डु-पुत्रों की यह सेना भारी।
द्रुपदपुत्र, आपके शिष्य ने, रची व्यूह रचना-सारी॥ ३॥

इस सेना में अर्जुन-भीम सरीखे योद्धा बड़े-बड़े।
नृप विराट, नृप द्रुपद, सात्यकि, लेकर धनुष विशाल खड़े॥ ४॥

धृष्टकेतु हैं, चेकितान हैं, वीर्यवान काशी-स्वामी।
पुरुजित, कुंतीभोज, शैब्य नरश्रेष्ठ वीर बहुआयामी॥ ५॥

युधामन्यु-विकराल, उत्तमौजा, जो कभी न रण हारे।
महारथी अभिमन्यु, और हैं, द्रुपद-सुता के सुत सारे॥ ६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वस्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः॥
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

गुरुवर आप समझ लें, अपनी सेना की बातें सारी।
देता हूँ विशिष्ट सेनापतियों की प्रमुख जानकारी॥ ७॥

आप स्वयं हैं, भीष्म, कर्ण हैं, कृपाचार्य हैं जयकारी।
भूरिश्रवा, विकर्ण और अश्वस्थामा निर्भयकारी॥ ८॥

और बहुत से वीर खड़े हैं, मेरे लिए प्राण देने।
युद्ध विशारद होने, शस्त्र निपुणता का प्रमाण देने॥ ९॥

भीमसेन द्वारा रक्षित बल, लगता है पर्याप्त मुझे।
निज बल कम लगता, संरक्षण भले भीष्म का प्राप्त मुझे ॥ १०॥

अपने स्थानों में रहकर, सब प्रत्यंचा तान रखें।
भीष्म पितामह रहें सुरक्षित, सारे इसका ध्यान रखें॥ ११॥

तभी प्रतापी भीष्म पितामह ने, सिंहनाद सरोष किया।
दुर्योधन को आनंदित कर, तुमुल शंख का घोष किया॥ १२॥

तब नरसिंघे, ढोल, नगाड़े, और मृदंग बजे क्षण में।
बजे सैकड़ों शंख, भयंकर शोर हुआ समरांगण में॥ १३॥

दिव्य, श्रेष्ठ रथ जिसे चार श्वेतांगी अश्व सजाये हैं।
उसमें बैठे कृष्ण और अर्जुन ने शंख बजाये हैं॥ १४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

पाण्चजन्य कृष्ण का, पार्थ का देवदत्त समवेत बजा।
भीषणकर्मी भीमसेन के पौण्ड्र शंख से भय उपजा॥ १५॥

शंख अनंतविजय को फूंका, धर्मराज ने इसके बाद।
नकुल और सहदेव ने किया, मणिपुष्पक सुघोष से नाद॥ १६॥

वीर शिखंडी महारथी, काशीपति श्रेष्ठ धनुर्धारी।
धृष्टद्युम्न, राजा विराट, सात्यकि सर्वदा जयकारी॥ १७॥

हे राजन्! नृप द्रुपद, द्रोपदी-पुत्र और अभिमन्यु बली।
सबने पृथक शंख फूंके तो ध्वनियों की श्रंखला चली॥ १८॥

इन ध्वनियों से धरा-गगन तक, शोर बहुत विकराल हुआ।
जिसको सुनकर कुरुपुत्रों का, बुरा हृदय का हाल हुआ॥ १९॥

पूर्ण व्यवस्थित कुरुसेना पर, दृष्टि कपिध्वज ने डाली।
शस्त्र चलाने को उद्यत हो गए, धनंजय बलशाली॥ २०॥

हे राजन! फिर हृषिकेश से, बोले पार्थ धनुर्धारी।

मध्य उभय सेनाओं के रथ रोकें, अच्युत-अविकारी॥ २१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणमुद्यमे॥ २२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥

तब तक रथ रोकिए, देख लूं, मैं सबको बारी-बारी।
कौन-कौन हैं रण अभिलाषी, कौन युद्ध के व्यापारी॥ २२॥

बुद्धिहीन दुर्योधन का, जो-जो आये हैं हित करने।
उन्हें देखना है मुझको, जो डटे हुए जीने मरने॥ २३॥

संजय बोले, हे राजन! सुन अर्जुन की बातें सारी।
रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले गए गिरधारी॥ २४॥

भीष्म-द्रोण के सम्मुख, उत्तम रथ को स्थापित करके।
बोले कृष्ण - धनंजय! देखो, कुरुसेना को जी भर के॥ २५॥

उभय दलों में अर्जुन को, सब स्वजन लिए हथियार दिखे।
मामा, दादा, चाचा, ताऊ, मरने को तैयार दिखे॥ २६॥

गुरुवर, श्वसुर, सुहृद-मित्रों को देखा, दिखे सभी भाई।
पुत्र-पौत्रों को देखा तो अर्जुन पर करुणा छाई॥ २७॥

करुणा से अभिभूत पार्थ, कठिनाई से यह कह पाया।

देखो कृष्ण! युद्ध करने को, स्वजनों का समूह आया॥ २८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

सूख रहा है कंठ और कम्पित है अंग-अंग मेरा।
रोमांचित देह की शिथिलता, करती ध्यान भंग मेरा॥ २९॥

खिसक रहा गांडीव हाथ से, त्वचा ताप से जलती है।
स्थिर खड़ा न हो पाता हूँ, मन की एक न चलती है॥ ३०॥

हे केशव! सारे ही लक्षण, लगते हैं विपरीत मुझे।
मार युद्ध में स्वजनों को, अनुचित लगती है जीत मुझे॥ ३१॥

नहीं जीत की इच्छा केशव! राज्य नहीं स्वीकार मुझे।
हे गोविंद! राज्य-सुख-जीवन, सब लगते निस्सार मुझे॥ ३२॥

जिनके लिए राज्य-सुख-वैभव, के हैं हम इच्छाधारी।
धन-जीवन का मोह छोड़, वे करने खड़े युद्ध भारी॥ ३३॥

गुरुजन, दादे, चाचे, ताऊ, साले, ससुर और मामें।
इसी तरह के संबंधी सब, उद्यत खड़े शस्त्र थामें॥ ३४॥

इनको मारूं कृष्ण! रोकती है, मन की आवाज मुझे।
देश-धरा क्या, नहीं चाहिए, तीन लोक का राज मुझे॥ ३५॥

कुरुपुत्रों के वध से केशव! क्या प्रसन्न होंगे हम आप।
आतताइयों के वध से भी, लगता है हत्या का पाप॥ ३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

स्वजनों-कुरुपुत्रों के वध को, माधव! मन तैयार नहीं।
स्वजनों के हत्यारे को, सुख पाने का अधिकार नहीं॥ ३७॥

यद्यपि लोभित, भ्रष्टचित्त, कुलनाशक हैं ये लोग सभी।
मित्रद्रोह के पातक का भी, भोगेंगे ये भोग सभी॥ ३८॥

कुलनाशक घातक-पातक की, जब है हमें जानकारी।
हे जनार्दन! क्यों न करें हम खुद हटने की तैयारी॥ ३९॥

कुल के क्षय से धर्म सनातन, कुल का मिट जाता है आप।
धर्मनाश से कुल में पुष्पित और पल्लवित होता पाप॥ ४०॥

इस अधर्म का मूल्य कृष्ण! कुल की नारियां चुकातीं हैं।
बदले में वार्ष्णेय! वर्णसंकर को कुल में लातीं हैं॥ ४१॥

कुलघाती, कुल सहित वर्णसंकर, रौरव में जाते हैं।
तर्पण और श्राद्ध से वंचित, पितर अधोगति पाते हैं॥ ४२॥

वर्णसंकरों को पैदा करते हैं, पातक कुलघाती।
जाति और कुल की सनातनी, धर्म-धारणा मिट जाती॥ ४३॥

ऐसा सुनते हैं, केशव! ये धर्मविदारक कुलघाती।
सब जाते हैं नर्क, नर्क की अवधि सदा बढ़ती जाती॥ ४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

महापाप करने को उद्यत, हम सब ज्ञानी बड़े-बड़े।
राज्य और सुख से लोभित हो, स्वजनों को मारने खड़े॥ ४५॥

मुझ रण त्यागी, शस्त्रहीन का जीना भी दुस्कर होगा।
यदि कौरव रण में मारें तो, मरना श्रेयस्कर होगा। ४६॥

संजय बोले - ऐसा कह, अर्जुन शोकित हो अकुलाकर।
धनुष-बाण तज, पृष्ठ भाग में रथ के, बैठ गए जाकर॥ ४७॥

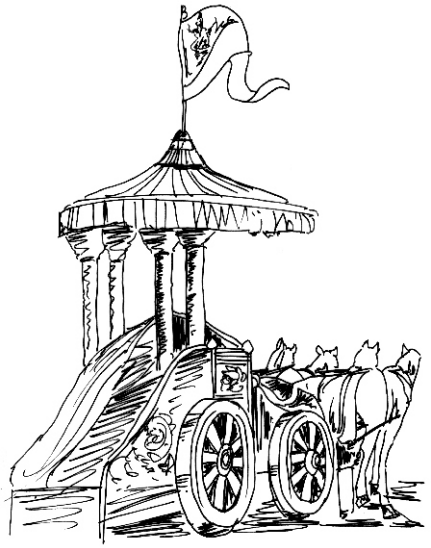

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

श्रीभगवान उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

दूसरा अध्याय

संजय बोले - शोक ग्रस्त अर्जुन के अविरल अश्रु बहे।
उसकी करुणा देख, कृष्ण करुणाकर ने यह बचन कहे॥ १॥

भगवन् बोले - अर्जुन! असमय मोह कहां तुमने पाया।
नहीं स्वर्ग, यश देता, सत्पुरुषों ने इसे न अपनाया॥ २॥

उचित नहीं तू बने नपुंसक, अर्जुन! तू है वीर बड़ा।
तज मन का दौर्बल्य क्षुद्र, हो पार्थ! युद्ध के लिए खड़ा॥ ३॥

अर्जुन बोले - मधुसूदन! कैसे संधानूं वाणों को।
पूजनीय गुरु द्रोण, भीष्म, कैसे लूं उनके प्राणों को॥ ४॥

भिक्षाटन कर लूं, न करूंगा, वध प्रियजन का, गुरुजन का।
नहीं चाहिए, रक्त सना, सुखभोग, काम का या धन का॥ ५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा व जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः
प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि
त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

श्रेष्ठ अहिंसा या कि युद्ध, इसका तो हमको ज्ञान नहीं।
हम जीतेंगे या हारेंगे, कहना भी आसान नहीं॥
जिनका वध करके शायद हम, जी न सकें दुख के मारे।
खड़े हुए युद्ध के लिए, धृतराष्ट्र पुत्र वे ही सारे॥ ६॥

कायरता रूपी दुर्गुण से, उपहत होकर डरा हुआ।
और धर्म के बारे में मन, मोह-क्षोभ से भरा हुआ।
इसीलिए बतलायें जो हो, साधन मुझे लाभकारी।
शिष्य आपका, शरण आपकी, शिक्षा दो हे गिरधारी!॥ ७॥

भूमि-राज्य-समृद्धि और अधिपत्य मिला देवों जैसा।
इन्द्रिय-शोषक शोक हरे, कोई न उपाय मिला ऐसा॥ ८॥

संजय बोले - राजन! अर्जुन निद्राजयी, असाधारण।
'नहीं करूँगा युद्ध कृष्ण' कहकर कर लिया मौन धारण॥ ९॥

यह सुनकर राजन! प्रभु ने, हंसकर अर्जुन को समझाया।
सेनाओं के बीच धनंजय, पर था महाशोक छाया॥ १०॥

श्रीभगवान उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

प्रभु बोले बातें पण्डित-सी करता, व्यर्थ विषाद करे।
चले गए या जायेंगे, पण्डित कब किसको याद करे॥ ११॥

ऐसा नहीं, नहीं था तू, मैं या, ये राजा बड़े बड़े।
ऐसा नहीं, नहीं होंगे फिर, सारे मेरे साथ खड़े॥ १२॥

जैसे, बचपन-यौवन-वृद्धापन का रूप सभी धरते।
देह अंतरण पर वैसे ही, मोह न धैर्यवान करते॥ १३॥

विषय-भोग इन्द्रिय के होते, शीत-उष्ण, सुख-दुख दाता।
हैं अनित्य एवं नश्वर हैं, अर्जुन! इन्हें सहा जाता॥ १४॥

विषय-भोग-संयोग-इन्द्रियों का जिनको न सताता है।
जो सुख-दुख को सम माने, नर श्रेष्ठ मोक्ष को पाता है॥ १५॥

असत तत्व क्षण भंगुर है, सब में सत् तत्व समाया है।
'तत्व', उभय तत्वों का तत्वज्ञानियों को दिख पाया है॥ १६॥

नाश रहित जो उसे जान, जिसके बिन जग का अर्थ नहीं।
अविनाशी तत्व का नाश, करने में कोई समर्थ नहीं॥ १७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषं पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अप्रमेय अविनाशी नित्य-स्वरूप आत्मा है यथार्थ।
इसके शरीर सब नाशवान, इस कारण तू कर युद्ध पार्थ!॥ १८॥

मरती है आत्मा, मारती है, कुछ लोग मानते हैं।
यह मरती, न मारती है, यह सत्य न लोग जानते हैं॥ १९॥

यह आत्मा अजन्मा नित्य-पुरातन और सनातन है।
नहीं जन्मती और न मरती मरता तो केवल तन है॥ २०॥

जो जन इस अव्यय अविनाशी, अज का मर्म जान पाये।
पार्थ! आत्मा को वह कैसे, मार सके या मरवाये॥ २१॥

जैसे मानव जीर्ण वस्त्र तज, धारण करता नया वेश।
आत्मा त्याग कर जीर्ण-शीर्ण तन, नूतन में करती प्रवेश॥ २२॥

शस्त्र न काटें इसे, जलाता इसे अग्नि का दाह नहीं।
जल न गलाता इसे, सोखता इसको पवन प्रवाह नहीं॥ २३॥

नहीं आत्मा कटती, जलती, गलती, सूख नहीं पाती।
सर्वव्याप्त, स्थिर, सनातनी, निश्चल, नित्य कही जाती॥ २४॥

यह अचिन्त्य, अविकारी है, अव्यक्त बताई जाती है।
अर्जुन! यह आत्मा, शोक के योग्य न पाई जाती है॥ २५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

तुमने माना इसे नित्य जन्मने, नित्य मरने वाली।
तब ऐसी मान्यता धनंजय! शोक नहीं करने वाली॥ २६॥

जीवित का मरना, मृत का फिर लेना जन्म इसी क्रम से।
अपरिहार्य यह क्रम अर्जुन! तू बाहर निकल शोक भ्रम से॥ २७॥

व्यक्त न था जो पूर्वजन्म के, व्यक्त मृत्यु के बाद नहीं।
केवल व्यक्त मध्य में है, कर उसके लिए विषाद नहीं॥ २८॥

इसे देखते अचरज से कुछ, अचरज से समझाते हैं।
कुछ सुनते हैं अचरज से, कुछ सुनकर समझ न पाते हैं॥ २९॥

सारे जीवों में स्थित इसका, वध कभी न होता है।
नहीं शोक के योग्य पार्थ! क्यों अपना धीरज खोता है॥ ३०॥

क्षत्रिय धर्म तुम्हारा है, उसमें तो भय का नाम नहीं।
धर्मयुद्ध को करने से, श्रेयस्कर कोई काम नहीं॥ ३१॥

धर्मयुद्ध है इसमें अर्जुन! द्वार स्वर्ग के खुल जाते।
भाग्यवान क्षत्रिय ही केवल, ऐसे शुभ अवसर पाते॥ ३२॥

नहीं करेगा धर्म युद्ध तो, धर्म भ्रष्ट हो जायेगा।
होगा प्राप्त पाप को तेरा, सुयश नष्ट हो जायेगा॥ ३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

ऐषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

युग-युग तक लोगों के मुंह पर, अपयश का विवरण होगा।
तुझ जैसे सम्मानित को, अपयश से श्रेष्ठ मरण होगा॥ ३४॥

तुझे समझते श्रेष्ठ असाधारण, समझेंगे साधारण।
महारथी समझेंगे तूने, भय के कारण छोड़ा रण॥ ३५॥

शत्रु कहेंगे, कहने योग्य नहीं हैं, जो बातें सारी।
क्षमता की निंदा सुनने से, नहीं दूसरा दुख भारी॥ ३६॥

मर जाने पर स्वर्ग मिलेगा, राज्य धरा का, जय करके।
इस कारण कौंतेय! खड़ा हो जा, रण का निश्चय करके॥ ३७॥

सुख-दुख, हानि-लाभ से, जीत-हार से यदि अलगाव रहे।
नहीं लगेगा पाप, युद्ध का, यदि समता का भाव रहे॥ ३८॥

ज्ञान योग के बाद पार्थ! सुन, कर्म-योग की वाणी को।
यह सद्बुद्धि कर्मबंधन से, मुक्ति दिलाती प्राणी को॥ ३९॥

बीज कर्म का नष्ट न होता, किया अगर सद्-आशय से।
कर्म योग में अल्प धर्म भी रक्षा करे महा-भय से॥ ४०॥

हे कुरुनंदन! कर्मयोग में, बुद्धि एक-निश्चय वाली।
लेकिन बुद्धि सकाम जनों की, भेद और संशय वाली॥ ४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उचयते॥ ४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

ये अविवेकी जन हे अर्जुन!, भोगों में तन्मय रहते।
वेद वाक्य को श्रेष्ठ, स्वर्ग को ही अतिश्रेष्ठ लोक कहते॥ ४२॥

शोभायुक्त दिखाऊ वाणी, जन्म-कर्मफल के दाता।
भोग और ऐश्वर्य के लिए, विविध क्रियाओं के ज्ञाता॥ ४३॥

भोग और ऐश्वर्य आदि ने, जिनका चित्त चुराया है।
परमपिता में बुद्धि-विवेक, लगाना उन्हें न आया है॥ ४४॥

वेद विहित त्रिगुणी विषयों-भोगों से अर्जुन! मुक्त रहो।
योग-क्षेमगत, द्वंद रहित, सत्वस्थ, आत्मबल युक्त रहो॥ ४५॥

छोटा कुंड अनुपयोगी, यदि बड़ा जलाशय मिल जाये।
ब्रह्म तत्व जाने जो पण्डित, नहीं वेद में भरमाये॥ ४६॥

है अधिकार कर्म पर, फल पर, तो कदापि अधिकार नहीं।
तजे श्रेय फल का, निष्क्रियता - युक्त करे व्यवहार नहीं॥ ४७॥

सिद्धि-असिद्धि समान मान तू, मत होना आसक्त कभी।
है समत्व ही योग, योग में स्थिर हो, कर कर्म सभी॥ ४८॥

कर्म सकाम निम्न श्रेणी का, फल के हेतुक भी न भले।
हो समबुद्धि धनंजय! अब तू, बुद्धि-योग का आश्रय ले॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

श्रीभगवान उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥५६॥

बुद्धि योग से युक्त हुए तो, पाप-पुण्य क्या, क्या फल है।
तू लग जा योग में, योग ही तो कर्मों का कौशल है॥५०॥

करके फल का त्याग मनीषी, बुद्धि-युक्त कहलाते हैं।
निर्विकार हो, पुनर्जन्म से मुक्त, परम-पद पाते हैं॥५१॥

मोह स्वरूपी दल-दल से, जब बुद्धि तुम्हारी पार लगे।
सुने गए या सुनने वाले, भोगों से वैराग्य जगे॥५२॥

बहुश्रुत बचनों से विचलित, जब बुद्धि अचल-स्थिर होगी।
ठहर जायेगी ईश्वर में तो, तू बन जायगा योगी॥५३॥

अर्जुन बोले - समाधिस्थ के, लक्षण क्या हैं ? गिरधारी!।
ये कैसे बैठते, चला करते, करते बातें सारी॥५४॥

प्रभु बोले अर्जुन! जब त्यागे, मन की सभी कामनाएं।
स्थितप्रज्ञ, आत्मा के अंतर्गत, आत्मतुष्टि पायें॥५५॥

दुख में जो उद्विग्न न होते, सुख से उदासीन होते।
वे जन स्थिर बुद्धि, क्रोध-गत, भय-गत, रागहीन होते॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥

जिसको शुभ हो या कि अशुभ हो, स्नेह किसी में शेष नहीं।
वह है स्थित-प्रज्ञ जिसे, आनंद नहीं, विद्वेष नहीं॥५७॥

जैसे अपने अंगों को भीतर समेट लेता कछुआ।
जो इन्द्रियां हटाये विषयों से वह स्थितप्रज्ञ हुआ॥५८॥

निराहार रहने पर तन विषयों से तो निवृत्ति पाता।
रह जाता रस शेष किंतु जो प्रभु से मिलने पर जाता॥५९॥

नष्ट न हो आसक्ति पार्थ! तो इन्द्रिय पाती प्रमथन को।
ये बलात हर ही लेती हैं, बुद्धिमान जन के मन को॥६०॥

सभी इन्द्रियों को कर वश में, जो जोड़े प्रभु से नाता।
है जितेन्द्रिय, उसको ही तो, स्थिरबुद्धि कहा जाता ॥६१॥

विषयों के चिंतन से पैदा हों, आसक्ति-कामनाएं।
कामनाएं यदि पूर्ण न हों तो, जन्म क्रोध को दे जायें॥६२॥

क्रोध बढ़ाता मूढ़भाव को, जो स्मृति को भ्रमित करे।
स्मृति भ्रम से बुद्धिनाश, अज्ञान मनुज को पतित करे॥६३॥

राग द्वेष गत रखे इंद्रियां, वश में अंतःकरण करे।
मिले आत्म-आनंद भले, वह विषयों का आचरण करे॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शन्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

मिले आत्म आनंद अगर, दुख के बंधन कट जाते हैं।
स्थिरबुद्धि परम प्रभु में तो, अन्य दृश्य हट जाते हैं॥ ६५॥

मन की जो माने, उसमें, सम बुद्धि नहीं, भावना नहीं।
बिना भावना, शांति नहीं, सुख की भी संभावना नहीं॥ ६६॥

जल में विचरित नौका का, ज्यों करती हरण हवा भारी।
मन जिस इन्द्रिय में बिचरे, वह हर लेती प्रज्ञा सारी॥ ६७॥

इन्द्रिय जनित विषय भोगों से, हैं जिसकी इन्द्रियां परे।
स्थिर बुद्धि उसी की अर्जुन! जो इन्द्रिय निग्रहण करे॥ ६८॥

निशा सभी जीवों की जो, उसमें जागा करते योगी।
जब जागे सब जीव जगत के, मुनि की तभी निशा होगी॥ ६९॥

सिंधु अचल ही रहे, विविध जल धाराओं से जल आये।
जिसमें भोग समाहित होते, वह नर परम शांति पाये॥ ७०॥

जो भी जन सब कामनाएं तज, उदासीन हो जाता है।
निरहंकारी, ममता त्यागी, परम शांति को पाता है॥ ७१॥

नहीं विमोहित होते अर्जुन! ब्रह्म प्राप्त करके योगी।
पाते ब्रह्मानंद, ब्रह्म में स्थिति अंत समय होगी॥ ७२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २ ॥

श्रीभगवान उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६ ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन बोले - कृष्ण! कर्म से श्रेष्ठ ज्ञान को पाते हो।
फिर केशव! क्यों मुझे भयंकर, कर्मों में उलझाते हो ?॥ १ ॥

मिलते जुलते वचनों से, मोहित हो गई बुद्धि मानो।
निश्चित बोलो एक बात, जिसमें तुम मेरा हित जानो॥ २ ॥

प्रभु बोले निष्पाप! जगत में होती हैं दो निष्ठाएं।
त्यागी ज्ञान-योग को, योगी कर्म-योग को अपनाएं॥ ३ ॥

कर्मों का आरंभ किए बिन, निष्कर्मता नहीं होगी।
त्याग करे कर्मों का केवल, सिद्धि नहीं पाते योगी॥ ४ ॥

क्षण भर को भी कोई मानव, बिना कर्म रहता न कभी।
युक्त प्रकृति के गुण से, करने कर्म, विवश हैं लोग सभी॥ ५ ॥

मूढ़ बुद्धि जो सभी इंद्रियों को संयमित दिखाता है।
मन में करता है चिंतन, मिथ्याचारी कहलाता है॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

पार्थ! इंद्रियों को वश कर, जो अनासक्त हो जाता है।
करे आचरण, कर्म-योग का, वही श्रेष्ठता पाता है॥ ७॥

अकर्मण्यता से ऊँचा है, कर्म, कर्म का कर पालन।
बिना कर्म तेरे शरीर का, कैसे होगा संचालन॥ ८॥

यज्ञ निमित्त कार्य से हटकर, कर्म बांधते हैं बंधन।
यज्ञ कर्म कर, इसीलिए, हो अनासक्त कुंतीनंदन!॥ ९॥

सृष्टि और यज्ञ की, आदि में ब्रह्माजी ने रचना कर।
कहा - वृद्धि, वांछित फल पायें, सभी यज्ञ को अपनाकर॥ १०॥

यज्ञों से उन्नत सुर होवें, तुमको उन्नत देव करें।
हो सबका कल्याण परस्पर, यदि सहयोग सदैव करें॥ ११॥

देकर यज्ञ देवताओं को, निश्चित इच्छित फल पायें।
जो बिन यज्ञ किए फल भोगें, वे जन चोर कहे जायें॥ १२॥

खाकर यज्ञावशेष अन्न को, मुक्ति पाप से पाते हैं।
वे खाते हैं पाप, अन्न जो, अपने लिए पकाते हैं॥ १३॥

सब प्राणी अन्न से उपजते, वृष्टि अन्न उपजाती है।
यज्ञ कराते वृष्टि, यज्ञ को कर्मण्यता कराती है॥ १४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तसमात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमोप्नोति पुरुषः॥ १९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

कर्म, वेद से प्रकट, वेद तो, अविनाशी से प्रकटित हैं।
इससे होता सिद्ध, यज्ञ में परमात्मा प्रतिष्ठित हैं॥ १५॥

जो जन प्रचलित सृष्टिचक्र को, पार्थ! नहीं अपनाते हैं।
वे पापी इन्द्रिय सुखभोगी, जीवन व्यर्थ गंवाते हैं॥ १६॥

लेकिन जो जन आत्मरमण रत, आत्म-तृप्त हो जाते हैं।
उन्हें बाध्यता नहीं कर्म की, आत्मतुष्ट कहलाते हैं॥ १७॥

कर्म करे या नहीं करें, उनका कोई निहितार्थ नहीं।
सभी प्राणियों से किंचित भी, संबंधों में स्वार्थ नहीं॥ १८॥

अनासक्त हो कर्म किए जा, काट लिप्तता के बंधन।
अनासक्त कर्तव्यनिष्ठ को, ईश्वर मिले पृथानंदन!॥ १९॥

अनासक्त कर्म से, जनक जैसे नृप परम सिद्धि पाये।
तू भी इसके योग्य कर्म कर, जो जनमानस को भाये॥ २०॥

श्रेष्ठ पुरुष जो करें आचरण, जगत उसे अपनाता है।
वे जो करें प्रमाणित, वह सबका प्रमाण बन जाता है॥ २१॥

मेरा कर्म नहीं निश्चित, कुछ नहीं मुझे जो प्राप्त नहीं।
फिर भी पार्थ! तीन लोकों में, मेरा कर्म समाप्त नहीं॥ २२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्धांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

प्रकृतेः क्रियमाणनि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्नयस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अगर पार्थ! मैं सावधान हो, कर्म न करूं किसी कारण।
होगी बड़ी हानि, मेरा अनुसरण करें जन साधारण॥ २३॥

नष्ट-भ्रष्ट सब हो जायेंगे, यदि मैं कर्म नहीं करता।
बनूं प्रजा नाशक कहलाऊं, करने वाला संकरता॥ २४॥

अज्ञानी आसक्त पुरुष, करते हैं नित्य कर्म जैसे।
अनासक्त विद्वान लोकहित में आचरण करें वैसे॥ २५॥

ज्ञानी जन निज कर्म करें, करवायें सबसे अनुक्रम में।
कर्मलिप्त अज्ञानी जन को, डालें नहीं किसी भ्रम में॥ २६॥

सभी कर्म, प्राकृतिक गुणों से ही क्रियान्वित रहते हैं।
अहं विमोहित अज्ञानीजन, ''मैं कर्ता हूँ'' कहते हैं॥ २७॥

कर्म और गुण के विभाग के तत्वों को समझें योगी।
गुण बरतें गुण को यह जानें, तो आसक्ति नहीं होगी॥ २८॥

मोहित हैं, प्राकृतिक गुणों पर और कर्म के अभिमानी।
मंद बुद्धि आसक्त जनों को, विचलित नहीं करें ज्ञानी॥ २९॥

मुझमें अपना चित्त लगा, सारे कर्मों को अर्पण कर।
आशा, ममता छोड़ और, संताप त्याग करके रण कर॥ ३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

इन्द्रियस्येन्दियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

श्रीभगवान उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

मेरे इस मत का अनुपालन, करके श्रद्धा युक्त रहें।
दोष-दृष्टि से मुक्त रहें तो, कर्मों से भी मुक्त रहें॥ ३१॥

इस मत के अनुसार न चलते, दोषारोपण में रत हैं।
ज्ञान विमोहित अज्ञानी जन, जीवित रहते भी मृत हैं॥ ३२॥

ज्ञानवान भी स्वयं प्रकृति पर, आधारित आचरण करें।
प्राणी सभी प्रकृति के वश हैं, फिर क्यों हठ का वरण करें॥ ३३॥

'राग-द्वेष' 'इंद्रिय-इंद्रिय', के विषयों के उत्पादक हैं।
इनके वश मत हो, कल्याण-मार्ग में दोनों बाधक हैं॥ ३४॥

सदाचरित परधर्म भयावह, अपना धर्म श्रेष्ठत्तर है।
गुणातीत हो, पर स्वधर्म पर मरना भी श्रेयस्कर है॥ ३५॥

अर्जुन बोले - कृष्ण! कर्म जो नहीं मनुज को भाता है।
कौन बलात उसे प्रेरित कर, पाप कर्म करवाता है ?॥ ३६॥

बोले कृष्ण - रजोगुण से, उत्पन्न 'काम' को पहचानो।
तृप्त न होता यह पापी, इसको पहला बैरी जानो॥ ३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

धूम्र अग्नि को, दर्पण को ज्यों मैल मलिन कर सकता है।
जेर गर्भ को ढंकता जैसे, काम ज्ञान को ढंकता है॥ ३८॥

अर्जुन! यह कामाग्नि कभी भी, तृप्त नहीं हो पाती है।
ज्ञानी-जन की नित्य शत्रु है, सदा ज्ञान पर छाती है॥ ३९॥

मन-इंद्रियां-बुद्धि, इनको काम का निवास कहा जाता।
इनसे मिल, जीव को विमोहित करे ज्ञान पर छा जाता॥ ४०॥

पार्थ! इंद्रियों को वश करने का पहले अभ्यास करो।
नाश, ज्ञान का जो करता, फिर उस काम का विनाश करो॥ ४१॥

तन से परम इंद्रियां, मन, इंद्रिय से परम, कहा जाता।
मन से परम बुद्धि, आत्मा को, सबका चरम कहा जाता॥ ४२॥

मन को जीत बुद्धि से, ज्ञान आत्मा का अभिप्राप्त करो।
दुर्जय बैरी काम, पार्थ! इसका अस्तित्व समाप्त करो॥ ४३॥

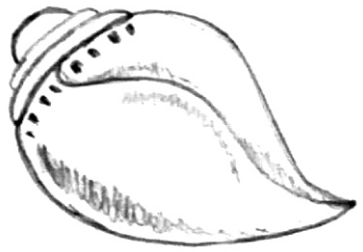

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽयि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

श्रीभगवान उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

चौथा अध्याय

भगवन् बोले - मैने पहले, योग सूर्य को बतलाया।
उसने वैवस्वत मनु तक, मनु ने इक्ष्वाकु तक पहुंचाया॥ १॥

परंपरागत योग विधा के, थे राजर्षि पूर्ण ज्ञाता।
बहुतकाल से पार्थ! भूमि पर, योग नहीं पाया जाता॥ २॥

योग पुरातन विद्या है, है गुप्त रखी जाने वाली।
तू मेरा प्रिय सखा-भक्त है, इससे मैंने कह डाली॥ ३॥

बोले पार्थ - पुरातन है रवि, जन्म आपने अब पाया।
आदिकाल में योग आपने, रवि को कैसे बतलाया ?॥ ४॥

प्रभु बोले - हे पार्थ! हमारे, जन्म हो चुके बहुतेरे।
किंतु परंतप! तुम्हें नहीं स्मरण, ध्यान में है मेरे॥ ५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धय्कर्तारमव्ययम्॥ १३॥

जीवों का ईश्वर अविनाशी, जन्म न लेता काया से।
करके प्रकृति अधीन, प्रकट होता हूँ, अपनी माया से॥ ६॥

जब-जब घटता धर्म, पाप को पग पसारते पाता हूँ।
तब-तब अर्जुन! मैं अपना, साकार स्वरूप सजाता हूँ॥ ७॥

दुष्टों का करने विनाश, सत्पुरुषों का दुख हरने को।
युग-युग, मैं प्रकटित होता हूँ, धर्म संस्थित करने को॥ ८॥

जन्म-कर्म हैं दिव्य तत्वतः, जो जन इसे जान पाये।
वह तज देह न जन्मे फिर से, मुझमें पार्थ! समा जाये॥ ९॥

राग, क्रोध, भय तज शरणागत जो, मुझमें तल्लीन हुए।
ज्ञान रूप तप से पवित्र हो, मुझमें सभी विलीन हुए॥ १०॥

उसी भाव से मिलता हूँ, जो भाव भक्त जन धरते हैं।
अर्जुन! मेरे पथ का सारे, लोग अनुसरण करते हैं॥ ११॥

कर्म सिद्धि के लिए, देवताओं को पूजा जाता है।
मानव इससे शीघ्र जगत में, कर्मों का फल पाता है॥ १२॥

चतुर्वर्ण के कर्म-वर्ग-गुण का, मैं ही निर्माता हूँ।
कर्ता हूँ, पर आप अकर्ता-अविनाशी कहलाता हूँ॥ १३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

मुझे न बांधे कर्म, कर्मफल की मुझको स्पृहा नहीं।
जिसने मुझे तत्वतः जाना, बंधा कर्म से रहा नहीं॥ १४॥

पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने, कर्म किए ज्ञानी होकर।
किया पूर्वजों ने अनुपालन, तू निष्काम कर्म को कर॥ १५॥

क्या अकर्म है और कर्म क्या, ज्ञानी पड़ जाते भ्रम में।
तू हो बंधन मुक्त, कहूँगा तत्व, कर्म का अनुक्रम में॥ १६॥

क्या है रूप कर्म का, क्या होता अकर्म यह भी जानो।
पाप कर्म को समझ, कर्म के गहन वेग को पहचानो॥ १७॥

यदि अकृत्य भी कृत्य, कृत्य भी जिनके लिए अकृत्य हुआ।
वह योगी है, बुद्धिमान है, और वही कृतकृत्य हुआ॥ १८॥

जिसके कर्मों में संकल्प, कामनाएं भी वर्जित हों।
वह पण्डित है, ज्ञान अग्नि में, जिसके कर्म विसर्जित हों॥ १९॥

नित्य तृप्त हैं, और निराश्रित, फल की नहीं कामनाएं।
करते हुए कर्म सारे वे, कर्म हीन ही कहलायें॥ २०॥

जिस जितेन्द्रिय ने त्यागा, भोगों के क्रिया कलापों को।
यदि शरीरगत कर्म करे तो, प्राप्त न होगा पापों को॥ २१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

ईर्ष्या-द्वंद-रहित, इच्छागत, मार्ग तुष्टि का अपनाए।
सिद्धि-असिद्धि समान जिसे, फिर कर्म न उसे बांध पाए॥ २२॥

अनासक्त है, मुक्त देह से, चित्त ज्ञान में लीन हुआ।
यज्ञ कर्म जो करे, कर्म का बंधन स्वयं विलीन हुआ॥ २३॥

अर्पण ब्रह्म, हविष्य ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, ब्रह्म क्रिया।
ब्रह्मरूपकर्ता योगी ने, ब्रह्मरूप फल प्राप्त किया॥ २४॥

कुछ योगी-जन अनुष्ठान कर, देवों का पूजन करते।
और अन्य कुछ, ब्रह्म अग्नि में, आत्म रूप अर्पण करते॥ २५॥

कुछ योगी विषयों को, इन्द्रिय की अग्नि में हवन करते।
संयम की अग्नि में और कुछ, इन्द्रिय की आहुति धरते॥ २६॥

कुछ योगी-जन प्राण और इन्द्रिय की सभी प्रक्रियायें।
आत्म नियंत्रण की पावक में, करके हवन ज्ञान पायें॥ २७॥

द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, ज्ञान के भी तो यज्ञ किए जायें।
लोग अहिंसक, स्वाध्याय के ज्ञान-यज्ञ को अपनायें॥ २८॥

कुछ अपान में प्राण, प्राण में, कुछ अपान का यजन करें।
कुछ दोनों की गति को रोकें, प्राण-प्राण में हवन करें॥ २९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्यते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मासात्कुरुते तथा॥ ३७॥

जो हैं प्राणायाम परायण, और संयमित आहारी।
सभी पाप नाशक यज्ञों की, उनको प्राप्त जानकारी॥ ३०॥

यज्ञ शेष का अमृत खाते, ब्रह्म सनातन पाते हैं।
यज्ञ नहीं जो करते, अर्जुन! दोनों लोक गंवाते हैं॥ ३१॥

ऐसे बहुविधि यज्ञ, वेदवाणी में वर्णित बहुतेरे।
क्रियाधीन हैं, उन्हें तत्वतः जान, कटें बंधन तेरे॥ ३२॥

द्रव्य यज्ञ से श्रेष्ठ हमेशा, ज्ञान-यज्ञ कहलाता है।
ज्ञान-यज्ञ में, पार्थ! विसर्जन कर्मों का हो जाता है॥ ३३॥

विधिवत कर प्रणाम, सेवा कर, प्रश्न यदि पूछा जाये।
परम तत्व के ज्ञानीजन से, परम ज्ञान तू पा जाये॥ ३४॥

परम ज्ञान से, मोहरहित, निःशेष भाव जागे तुझमें।
सभी महाभूतों को देखे, पहले खुद में फिर मुझमें॥ ३५॥

सभी पापियों से लगता है, अपना पाप अपार तुझे।
नाव ज्ञान की ले जायेगी, पाप सिंधु से पार तुझे॥ ३६॥

अग्नि प्रज्वलित करती, भस्माभूत जिस तरह ईंधन को।
अर्जुन! ज्ञान अग्नि कर देगी भस्म, कर्म के बंधन को॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

सबको करे पवित्र, ज्ञान - सी कोई वस्तु नहीं होगी।
वर्षों से यह ज्ञान, आत्मा में पा रहे कर्म योगी॥ ३८॥

श्रद्धावान, संयमित, तत्पर, मानव को वह ज्ञान मिले।
जिसको पाकर परम शांति भी मिले, स्वयं भगवान मिले॥ ३९॥

श्रद्धाहीन, संशयी, अज्ञानी, विनष्ट हो जाता है।
सुख तो पाता नहीं, संशयी दोनों लोक गंवाता है॥ ४०॥

संशय को ज्ञान से नष्टकर, योगी - सा आचरण रखे।
उसे न बांधे कर्म, धनंजय! वश में अंतःकरण रखे॥ ४१॥

काट ज्ञान की असि से, जो अज्ञान-जनित संशय उमड़ा।
ज्ञान योग में स्थित हो, अर्जुन! हो रण के लिए खड़ा॥ ४२॥

अथ पंचमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवान उवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

पाँचवाँ अध्याय

'कर्मयोग' 'सन्यास' आपने, दोनों की श्रेष्ठता कही।
अर्जुन बोले - केशव! क्या है, इनमें मेरे लिए सही ?॥ १॥

भगवन् बोले - 'कर्मयोग' 'सन्यास' उभय हैं हितकारी।
साधन में है सुगम, इसलिए कर्म योग सब पर भारी॥ २॥

सन्यासी ही है, इच्छागत, द्वेषविहीन कर्म योगी।
द्वंद रहित ऐसे मनुष्य की, अर्जुन! सुखद मुक्ति होगी॥ ३॥

'कर्मयोग' 'सन्यास' पृथक हैं, पण्डित नहीं मूर्ख कहते।
मिलता है फल दोनों का ही, किसी एक में स्थिर रहते॥ ४॥

सन्यासी जिस धाम पहुंचते, पहुंचे वहीं कर्म योगी।
दोनों एक- 'दृष्टि में जिसकी' उसकी दृष्टि-दृष्टि होगी॥ ५॥

कर्म योग बिन, पाने में सन्यास, बहुत हैं बाधाएं।
लेकिन अर्जुन ! योग युक्त-मुनि, बिना विलंब ब्रह्म पाएं॥ ६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

अंतःकरण शुद्ध हो, इन्द्रिय जीत, करे वश में मन को।
सब जीवों में ईश्वर देखे, कर्म न बांधे, उस जन को॥७॥

सुनने, छूने, सोने, खाने, जाने और बोलने की।
लेने श्वास, सूंघने, आंखों को मूंदने, खोलने की॥८॥

करने ग्रहण, त्यागने और देखने की प्रक्रिया-क्रिया।
सन्यासी यह समझे, इंद्रिय करती, उसने कुछ न किया॥९॥

प्रभु को अर्पण कर, निर्लिप्त रहें, सब क्रिया-कलापों से।
जल में कमल-पत्र जैसे, वे लिप्त न होते पापों से॥१०॥

अनासक्त होकर, शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा।
आत्मशुद्धि के लिए, कर्मयोगी-जन, करें कर्म सारा॥११॥

करके फल का त्याग, कर्मयोगी प्रभु रूप शांति पायें।
पर सकाम जन, फलासक्ति के बंधन में बंध रह जायें॥१२॥

मन से त्याग सभी कर्मों को, न कुछ करे, न करवाये।
तन के नौ द्वारों वाले घर में सन्यासी सुख पाये॥१३॥

कर्म करें, कर्तापन पालें, मिले कर्म फल लोगों को।
ईश्वर रचता नहीं, प्रकृति रचती है, इन संयोगों को॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

पाप या कि शुभ कर्म, किसी के, ईश्वर उन्हें न पाता है।
मोहित हैं, सब जीव, ज्ञान को तो अज्ञान छुपाता है॥ १५॥

पर ईश्वर का ज्ञान तत्व, जब अज्ञान का विनाश करे।
ज्ञान प्रकाशित कर दे, प्रभु को जैसे सूर्य प्रकाश करे॥ १६॥

जिसकी निष्ठा, बुद्धि और मन में प्रभुरूप प्रतिष्ठित है।
ज्ञान मिटाये पाप, न होगा पुनरागमन सुनिश्चित है॥ १७॥

विद्या, विनय-युक्त ब्राह्मण, हाथी, गौ का जो मान रहे।
श्वान, शूद्र के प्रति भी, समदर्शी का भाव समान रहे॥ १८॥

जिसका मन समदर्शी उसने, जग जीता जीवित रहते।
वह स्थित ब्रह्म में, बह्म को तो सम, दोषरहित कहते॥ १९॥

जिसे न दुख हो अप्रिय पाकर, प्रिय को पा आनंद न हो।
ब्रह्मलीन वह ब्रह्मवेत्ता, अचल बुद्धि हो द्वंद्व न हो॥ २०॥

अनासक्त, जो बाह्य विषय से, आत्मजनित सुख पाते हैं।
ब्रह्मयोग से युक्त पुरुष, अक्षय आनंद उठाते हैं॥ २१॥

दुख के हेतुक विषय जनित, सुख-भोग, कम समय थमते हैं।
इसीलिए सब बुद्धिमान जन, पार्थ! न इसमें रमते हैं॥ २२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

वह योगी है और सुखी है, देह त्यागने से पहले।
काम-क्रोध से जनित वेग को, जो आसानी से सह ले॥ २३॥

आत्मरमण रत, आत्म सुखी हो, आत्म-ज्ञान को अपनाएं।
एकाकार ब्रह्म से हो, वह योगी शांत ब्रह्म पाएं॥ २४॥

पापहीन, द्विविधा विहीन, जिसको जीवों का हित भाये।
निश्चल मन हो, लीन ब्रह्म में, वह नर शांत ब्रह्म पाये॥ २५॥

वह ज्ञानी जो काम क्रोध तज, निज चित्त पर विजय पाता।
जो जाने ब्रह्म को, वही परिपूर्ण ब्रह्म में मिल जाता॥ २६॥

विषयभोग के चिंतन को तज, भृकुटि मध्य में दृष्टि जमे।
वायु नासिका में बहती जो, सम-पर प्राण-अपान थमे॥ २७॥

मोक्ष परायण मुनि जिसने, मन-बुद्धि-इंद्रियां जय की हैं।
इच्छा, भय, क्रोध से रहित जो, वे तो सदा मुक्त ही हैं॥ २८॥

देव, यज्ञ-तप का, लोकों का, मुझे महा-ईश्वर जानें।
उसको मिलती शांति, मुझे जो, सुहृद प्राणियों का मानें॥ २९॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

छटवाँ अध्याय

योगी सन्यासी वे हैं जो कर्म करें, फल ना मांगें।
प्रभु बोले - वे नहीं, अग्नि को त्यागें, कर्मों से भागें॥ १॥

हे अर्जुन! है योग वही, जिसको सन्यास बताते हैं।
बिन त्यागे संकल्प, योग्यता नहीं योग की पाते हैं॥ २॥

योगाकांक्षी मुनि पहले, निष्काम कर्म निस्वार्थ करे।
योगारूढ़ पुरुष को संकल्पों, का त्याग कृतार्थ करे॥ ३॥

ना कर्मों में बंधे, और ना, इंद्रिय भोगों में भागी।
योगारूढ़ पुरुष वह, जो है सब संकल्पों का त्यागी॥ ४॥

डालें नहीं अधोगति में खुद को, खुद का उद्धार करें।
आप-आपके शत्रु आप हैं, अथवा मित्र विचार करें॥ ५॥

वह है मित्र स्वयं का जिसने, इंद्रिय-तन-मन जीत लिया।
जो न इन्हें जीता, खुद से व्यवहार शत्रुतापूर्ण किया॥ ६॥

सरदी-गरमी हो, सुख-दुख हो, मान या कि अपमान मिले।
शांत रहे जो उसकी अंतरात्मा में भगवान मिले॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

समं कायशिरोग्रीवं धरयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

निर्विकार, इंद्रियजित, करता तृप्त ज्ञान विज्ञान जिसे।
वह योगी है, मिट्टी-पत्थर-सोना सभी समान जिसे॥ ८॥

शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, उदासी, सुहृद, बंधु, संतापी हों।
वही श्रेष्ठ सम भाव रखे जो, साधक हों या पापी हों॥ ९॥

योगी, तन-मन-इंद्रिय वशकर, परिग्रह-आशा को छोड़े।
एकाकी, एकांत जगह पर, ईश्वर से नाता जोड़े॥ १०॥

ना अति ऊँचा, ना अति नीचा, आसन बना शुद्ध भूपर।
नीचे कुशा और मृग छाला, वस्त्र बिछा सबसे ऊपर॥ ११॥

चित्त और इंद्रिय को वश कर, ग्रहण करे फिर आसन को।
योग क्रिया से आत्म शुद्धि हो, यदि एकाग्र रखे मन को॥ १२॥

अचल समन्वित स्थिरता हो, शीश, देह में, ग्रीवा में।
सभी दिशायें अनदेखी कर, दृष्टि नासिका पर थामें॥ १३॥

ब्रह्मचर्य व्रत पाले, शांत आत्मा हो, भय मुक्त रहे।
मुझमें चित्त परायण मुझमें, मन संयम से युक्त रहे॥ १४॥

मन को वश में करके, मुझमें अंतःकरण लगाता है।
योगी मुझमें निहित, परमगति - परम शांति - को पाता है॥ १५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तदबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

योग न उनका, अर्जुन! जो अति खाते, या अनशन करते।
ना जाग्रत रहने वालों का, ना जो अधिक शयन करते॥ १६॥

यथायोग्य आहार बिहारी, यथायोग्य जगता-सोता।
यथायोग्य सक्रियता जिसमें, योग सिद्ध उसको होता॥ १७॥

प्रभु में जिसका चित्त नियंत्रित हो, स्थिर हो जाता है।
सब भोगों से अनासक्त जन, योगयुक्त कहलाता है॥ १८॥

जहां न पवन प्रवाहित होती, वहां दीप स्थिर जलता।
ध्यानावस्थित योगी का मन, खो देता है चंचलता॥ १९॥

योग क्रिया से चित्त संयमित, उपरामित हो जाता है।
मिले ध्यान में प्रभु का दर्शन जो संतुष्टि प्रदाता है॥ २०॥

शुद्ध बुद्धि द्वारा जब योगी, को आनंद अनंत मिले।
वह इन्द्रिय जित, परम पिता में स्थित हो, किंचित न हिले॥ २१॥

परम पिता के दर्शन से, बढ़कर कुछ नहीं लाभकारी।
हिला न सकता ऐसे योगी को, भारी से दुख भारी॥ २२॥

जिसका नाम योग है वह, दुख के संयोग समाप्त करे।
धैर्य और उत्साह पूर्वक, ज्ञान-योग को प्राप्त करे॥ २३॥

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सब संकल्प-जनित इच्छाओं, को पहले निःशेष करके।
मन के द्वारा सब इंद्रिय पर, हो संयम विशेष करके॥ २४॥

धीरे-धीरे उपरति पाएं, धैर्य बुद्धि से मन जोड़ें।
मन को कर स्थिर ईश्वर में, शेष सभी चिंता छोड़ें॥ २५॥

अस्थिर, मन चंचल, विभिन्न विषयों में व्यर्थ भटकता है।
प्रभु से मन को बांध, भटकने से रोका जा सकता है॥ २६॥

पापरहित मन पूर्ण शांत हो, शांत रजोगुण हो जाये।
होकर एकाकार ब्रह्म से, योगी उत्तम सुख पाये॥ २७॥

पापरहित योगी ईश्वर में, अंतःकरण लगाता है।
परम ब्रह्म को पाने का वह, परमानंद उठाता है॥ २८॥

अगर आत्मा योग युक्त है, सभी जगह समदृष्टि रहे।
सब जीवों में स्वयं, स्वयं में, सब जीवों की सृष्टि रहे॥ २९॥

सबको देखे मुझमें, सब में मुझको एकमेव देखे।
वासुदेव को जो देखे, उसको तो वासुदेव देखे॥ ३०॥

सब भूतों में स्थित मुझसे, खुद को एकाकर करे।
मुझको भजे, निहित हो मुझमें, सांसारिक व्यवहार करे॥ ३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

श्रीभगवान उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन! जो अपने जैसा, सब भूतों से बर्ताव रखे।
योगी परम श्रेष्ठ है जो, दुख में सुख में समभाव रखे॥ ३२॥

अर्जुन बोले - मधुसूदन! यह, योग समत्वभाव वाला।
नहीं दिखे स्थिरता इसमें, मन चंचल स्वभाव वाला॥ ३३॥

कृष्ण! चूंकि मन चंचल प्रमथित, दृढ़ ताकतवर लगता है।
इसे रोकना, वायु रोकने, जैसा दुष्कर लगता है॥ ३४॥

प्रभु बोले - कौन्तेय! सत्य है, मन चंचल असाध्य होता।
यह, वैराग्य और अभ्यास सतत, तो पार्थ! बाध्य होता॥ ३५॥

योग उन्हें दुष्प्राप्य, नियंत्रण से बाहर जिनका मन है।
मेरे मत में, योग सहज है, यदि मन पर अनुशासन है॥ ३६॥

अर्जुन बोले - साधक अगर, योग से विचलित हो जाता।
सिद्धि न पाता जो केशव! वह साधक किस गति को पाता॥ ३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

श्रीभगवान उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिदुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः ससिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रयते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

आश्रय हीन, भ्रमित साधक जब, मार्ग भ्रष्ट हो जाता है।
छिन्न भिन्न बादल जैसा क्या ? कृष्ण! नष्ट हो जाता है॥ ३८॥

कृष्ण! आप है, योग्य पूर्णतः, मेरा संशय हरने को।
सिवा आपके नहीं दूसरा, संशय छेदन करने को॥ ३९॥

प्रभु बोले - दोनों लोकों में, साधक नष्ट नहीं होता।
करता जो शुभ कर्म, पार्थ! उस जन को कष्ट नहीं होता॥ ४०॥

योग भ्रष्ट होकर भी साधक, उत्तम लोक स्वर्ग पाये।
पुनर्जन्म जब मिले, शुद्ध गृह, श्रीसंपन्न वर्ग पाये॥ ४१॥

या फिर ज्ञानवान योगी के, कुल में नया जन्म पाता।
इस प्रकार का जन्म विश्व में, अति-दुर्लभ माना जाता॥ ४२॥

शुभ संयोगों से संचित कर्मों को जब अभिवृद्धि मिले।
हे कुरुनंदन! वह करता फिर यत्न कि जिससे सिद्धि मिले॥ ४३॥

उसके पूर्वाभ्यास उसे फिर, से ईश्वर की शरण करें।
योगाकांक्षी जबकि, शास्त्र के भी विरुद्ध आचरण करें॥ ४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

पूर्व जन्म के संस्कार से, फिर प्रयत्न पर्याप्त करे।
कर देता अभ्यास उसे निष्पाप, परम गति प्राप्त करे॥ ४५॥

ज्ञानी और तपस्वी, कर्मी, फल-अभिलाषी, फलभोगी।
योगी सबसे श्रेष्ठ इसलिए, अर्जुन! तू हो जा योगी॥ ४६॥

सभी योगियों में भी, जिसमें श्रद्धा और सहजता है।
मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ, जो मुझे निरंतर भजता है॥ ४७॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

सातवाँ अध्याय

भगवन् बोले - मुझ में हो आसक्त, परायण, पार्थ! सुनो।
मुझे समग्र रूप में जानों, संशयरहित यथार्थ सुनो॥ १॥

कहता हूं विज्ञान-ज्ञान जो, विस्तारित विशेष होगा।
जिसे जान कर और जानने, जग में कुछ न शेष होगा॥ २॥

लोग हजारों में से एक, यत्न करता मुझको पाने।
उन सब में से एक कदाचित, मेरा तत्व रूप जाने॥ ३॥

अहंकार, मन, बुद्धि और जल, पावक, पवन, गगन, धरती।
मेरी प्रकृति इन्हीं आठों में, बंटकर सदा रहा करती॥ ४॥

आठ अवयवों वाली अपरा, है जड़ प्रकृति असाधारण।
अर्जुन! परा प्रकृति है चेतन, करती है जग को धारण॥ ५॥

सारे प्राणी इन दोनों से ही, उत्पन्न हुआ करते।
मैं हूँ प्रभव, प्रलय भी मैं हूँ, सब मुझ में जीते मरते ॥ ६॥

अर्जुन! मुझसे भिन्न न कोई, सब कुछ करने वाला मैं।
मुझ में गुम्फित विश्व, जिस तरह, मणि गुम्फित हों माला में॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

रवि-शशि में प्रकाश, वेदों में ओंकार हूँ, सुनो पार्थ!।
जल में रस हूँ, शब्द गगन में, पुरुषों में पौरुष यथार्थ॥८॥

पृथ्वी की पावन सुगंध मैं, जीवन जीव-धारियों का।
मैं पावक का तेज, और तप हूँ, तप के पुजारियों का॥९॥

तेजस्वी का तेज, बुद्धिमानों की बुद्धि, मुझे मानो।
सब जीवों का बीज सनातन, अर्जुन! मुझको पहचानो॥१०॥

सब जीवों का काम, धर्म के जो सब तरह अधीन रहे।
बलवानों का बल हूँ, जो आसक्ति-लालसा-हीन रहे॥११॥

सत, रज, तम इत्यादि गुणों के, 'भाव' हुए मुझसे मानो।
उनमें तो मैं नहीं और, मुझमें वे नहीं सत्य जानो॥१२॥

सारे जीव जगत को मोहित, तीन गुणों का भाव करे।
नहीं जानते मुझ अव्यय को, तीन गुणों से रहे परे॥१३॥

त्रिगुणात्मक दैवी माया से, कोई पार न पाता है।
बस मेरा अनवरत भजन, जीवों को पार लगाता है॥१४॥

माया हरती ज्ञान, नराधम, असुर भाव धरने वाले।
मेरी शरण नहीं आते हैं, नीच कर्म करने वाले॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

चार तरह के सत्कर्मी मुझको भजते कुंतीनंदन!।
आर्त और जिज्ञासु, अर्थसाधक, ज्ञानी करते वंदन॥ १६॥

प्रेम भाव से नित्य युक्त, जिसका बस 'भक्ति' सहारा है।
मैं प्रिय हूँ ज्ञानी को, ज्ञानी, मुझको सबसे प्यारा है॥ १७॥

सब उदार हैं, ज्ञानी है, मेरा, स्वरूप, मेरा मत है।
मुझ में स्थित उत्तम गति, मन बुद्धि वस्तुतः मदगत है।॥ १८॥

दुर्लभ हैं वे संत जन्म-जन्मांतर, मेरे गुण गायें।
वासुदेव ही सब कुछ हैं, वे ऐसा तत्व ज्ञान पायें॥ १९॥

ज्ञान हर लिया, कामनाओं ने, नया विधान बनाते हैं।
निज स्वभाव अनुरूप, अन्य देवों में ध्यान लगाते हैं॥ २०॥

जो जन श्रद्धा से जिस सुर के, पूजन की इच्छा करता।
उस सुर में उसकी श्रद्धा में, मैं ही अचल भाव भरता॥ २१॥

श्रद्धा युक्त पुरुष जिस किसी, देव में ध्यान लगाता है।
मेरे द्वारा विहित पुण्य फल, उसी देव से पाता है॥ २२॥

अल्प बुद्धि वालों का वह फल, शीघ्र नष्ट हो जाता है।
सुर पूजे, सुर मिले, भक्त मेरा, तो मुझको पाता है॥ २३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्मा तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

अल्प बुद्धि जन मुझ अविनाशी, को बस व्यक्ति मानते हैं।
मन-इन्द्रिय-गत मेरे परम भाव को नहीं जानते हैं॥ २४॥

मैं प्रत्यक्ष न होता, ढंककर, रखती मुझे योग माया।
जन्मरहित अविनाशी हूँ, यह मूढ़ जगत न जान पाया॥ २५॥

वर्तमान, गत, आगत के, सारे भूतों का ज्ञान मुझे।
बिना भक्ति कौंतेय! नहीं, कोई पाता पहचान मुझे॥ २६॥

द्वंद-मोह को पैदा करते हैं, प्राणी में द्वेष - स्वार्थ।
'द्वंद-मोह' से सम्मोहित हैं, जग के सारे जीव पार्थ!॥ २७॥

द्वंद-मोह से मुक्त श्रेष्ठजन, मेरा ही स्मरण करें।
होता नाश पातकों का, जो लोग पुण्य आचरण करें॥ २८॥

जरा मरण से मुक्ति चाहते, करते यत्न शरण आते।
अखिल 'ब्रह्म' 'आध्यात्म' 'कर्म' का, वे ही पूर्ण ज्ञान पाते॥ २९॥

जो जाने मुझमें 'अधिभूत', और 'अधिदेव' समाते हैं।
अंत समय में याद रखें, 'अधियज्ञ' वे मुझे पाते हैं॥ ३०॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

श्रीभगवान उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्तत्यत्र संशयः॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

आठवाँ अध्याय

बोले पार्थ - कृष्ण! क्या है 'अध्यात्म', 'ब्रह्म' क्या 'कर्म' कहो।
कहा जिसे 'अधिभूत' और 'अधिदेव' सभी का मर्म कहो ?॥ १॥

हे मधुसूदन! क्या होता, 'अधियज्ञ' हमारी काया में।
अंत समय में आप मिलें कैसे ? यह समझ न पाया मैं॥ २॥

निज स्वरूप 'अध्यात्म', परम-अक्षर है 'ब्रह्म' मर्म समझो।
भगवन् बोले - भूतों के भावों का त्याग 'कर्म' समझो॥ ३॥

ब्रह्मदेव 'अधिदेव' और, 'अधिभूत' सभी नश्वर पदार्थ।
वासुदेव 'अधियज्ञ' स्वयं मैं अविनाशी, नर श्रेष्ठ पार्थ!॥ ४॥

अंत काल में जो भी मुझको, भजता हुआ देह त्यागे।
इसमें संशय नहीं, मुझे वह, करता प्राप्त बिना मांगे॥ ५॥

मानव मन में, अंत समय, जैसा भी भाव व्याप्त होता।
अर्जुन! उस प्रभाव से उसको, वैसा भाव प्राप्त होता॥ ६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरुपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

पार्थ! इसलिए तू मेरा कर नित स्मरण, और रण कर।
मुझे प्राप्त होगा, तू निश्चित, बुद्धि और मन अर्पण कर॥ ७॥

करता योगाभ्यास निरंतर, चित्त अन्यत्र नहीं जाता।
पार्थ! निरंतर चिंतन से जन, दिव्य परम प्रभु को पाता॥ ८॥

जग पालक, सर्वज्ञ, तमरहित, सूरज-सी सुन्दरता है।
उस अचिंत्य, अति सूक्ष्म नियंता, का जो सुमिरन करता है॥ ९॥

भृकुटि मध्य रख प्राण, अचल - मन, प्रभु का ध्यान लगाता है।
भक्ति युक्त वह पुरुष अंत में, परम-पुरुष को पाता है॥ १०॥

ब्रह्मचर्य धारें वह पाने, जो पाते हैं सन्यासी।
सार सुनो उस 'पद' का जिसको, वैदिक कहते अविनाशी॥ ११॥

इन्द्रिय के द्वारों को रोकें, मन को हृदयंगम कर लें।
योगधारणा में प्राणों का, मस्तक से संगम कर लें॥ १२॥

'ॐ' ब्रह्म का उच्चारण कर, मुझ में ध्यान लगाता है।
ऐसा पुरुष शरीर त्याग कर, श्रेष्ठ परम पद पाता है॥ १३॥

जो सर्वदा अनन्य चित्त को, मुझ में नित्य लगाता है।
नित्ययुक्त वह योगी, अर्जुन! मुझे सहज ही पाता है॥ १४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

परम सिद्धि को पाते जो जन, वे जन मुझे प्राप्त होते।
उनके पुनर्जन्म क्षणभंगुर, दुख के घर समाप्त होते॥ १५॥

लेना पड़ता जन्म दुबारा, ब्रह्मलोक तक जा करके।
पुनर्जन्म से पार्थ! मुक्ति मिलती है, मुझको पाकर के॥ १६॥

दिन सहस्त्र युग का ब्रह्मा का, इतनी बड़ी रात होती।
काल तत्व को वे जाने, जिनको यह अवधि ज्ञात होती॥ १७॥

सूक्ष्म देह से ब्रह्मा की, दिन में जन्मते जीवधारी।
और रात्रि में उनमें, हो जाती है लीन सृष्टि सारी॥ १८॥

पार्थ! प्रकृति से विवश जीव, सब बार-बार जीवन पाते।
निशारंभ में खोकर, दिनारंभ में पैदा हो जाते॥ १९॥

एक और अव्यक्त भाव जो, इससे परे श्रेष्ठत्तर है।
होते सारे भूत नष्ट, लेकिन वह भाव अनश्वर है॥ २०॥

जो अव्यक्त भाव 'अक्षर' है, वही 'परम-गति' कहलाता।
वह है मेरा धाम, लौटता नहीं, वहां तक जो जाता॥ २१॥

सभी भूत जिसके भीतर, जिसमें संसार समाता है।
भक्ति अनन्य तभी, अर्जुन! ईश्वर को पाया जाता है॥ २२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

काल कि जिसमें देह त्याग, योगी जन लौटें नहीं, पार्थ!
जिसमें जाकर लौटें, दोनों का बतलाता हूँ यथार्थ॥ २३॥

शुक्ल पक्ष हो, रवि उत्तर में, अग्नि ज्योति से मार्ग सजे।
ब्रह्म प्राप्त हो योगी को, जो ऐसे पथ में देह तजे॥ २४॥

कृष्ण पक्ष हो, रवि दक्षिण में, धूमिल पथ से हो जाना।
चन्द्र ज्योति पा स्वर्ग भोगकर, वापस पड़ता है, आना॥ २५॥

शुक्ल-कृष्ण दो मार्ग सनातन, जिनसे योगी जाते हैं।
एक मुक्ति का मार्ग, दूसरे से जा वापस आते हैं॥ २६॥

भ्रमित न होते उभय पथों के, कालचक्र से योगी जन।
पार्थ! इसलिए सब कालों में, योग-युक्त हो योगी बन॥ २७॥

दान, यज्ञ, तप, वेद पाठ में, जो फल पुण्य कहा जाता।
उसे जानते हुए, उल्लंघन कर, योगी प्रभु को पाता॥ २८॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

नौवाँ अध्याय

गुप्त ज्ञान-विज्ञान सहित, अब कहता हूँ मैं, प्रभु बोले।
दोषदृष्टिगत भक्त, तुम्हारा दुख से मुक्ति-द्वार खोले॥ १॥

परम गुप्त विद्या का राजा उत्तम, पावन, ज्ञान बड़ा।
अव्यय, फलित प्रत्यक्ष, धर्ममय साधन में आसान बड़ा॥ २॥

हे अर्जुन! जिन पुरुषों ने, श्रद्धा से धर्म नहीं माना।
मुझे न पाते, मृत्यु-लोक में करते हैं आना-जाना॥ ३॥

पानी रहे बर्फ में जैसे, निर्गुण जग में बहता हूँ।
मुझ में स्थित सभी भूत, मैं उनमें कभी न रहता हूँ॥ ४॥

भूतों को दे जन्म, करे पोषण, वह यौगिक माया है।
मैं भूतों में नहीं, न मुझमें, कोई भूत समाया है॥ ५॥

वायु उपजती नभ से, नभ में रहे, भले सर्वत्र बहे।
इसी तरह मुझसे उपजा जो, मुझ में प्राणी-जगत रहे॥ ६॥

कल्पों के अंत में जीव सब, मुझ में पार्थ! समाते हैं।
नये कल्प में मेरे द्वारा, पुनः बनाये जाते हैं॥ ७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतु नानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ, दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

प्राणी होते विवश प्रकृति से, जो होती स्वीकार उन्हें।
बार-बार मैं ही रचता हूँ, कर्मों के अनुसार उन्हें॥८॥

उदासीन आसक्ति रहित मैं, रहता हूँ कुंतीनंदन!।
इसीलिए मुझको न बांधते हैं, इन कर्मों के बंधन॥९॥

मुझसे पा स्फूर्ति, प्रकृति के द्वारा जगत रचा जाता।
मुझ पर आधारित परिवर्तन, मैं हूँ पार्थ! अधिष्ठाता॥१०॥

मेरे परम-भाव को अज्ञानीजन नहीं जानते हैं।
मुझ भूतों के परमेश्वर को, केवल 'मनुज' मानते हैं॥११॥

बुद्धि-कर्म-आशाएं जिनकी व्यर्थ, 'विक्षिप्त' कहे जाते।
'प्रकृति मोहनी' असुर-राक्षसों की, अज्ञानी अपनाते॥१२॥

दैवी प्रकृति समाश्रित मुनि, अविकल मन, मुझको भजते हैं।
पार्थ! जानते हैं, अव्यय हूँ, मुझसे भूत उपजते हैं॥१३॥

सतत कीर्तन करें, यत्नतः, मेरी उपासना करते।
करते सदा प्रणाम, दृढ़व्रती, मेरा सदा ध्यान धरते॥१४॥

ज्ञान-यज्ञ करते योगी जन, मुझ पर भाव अनन्य रखें।
मेरे विश्व रूप परमेश्वर में, निष्ठा कुछ अन्य रखें॥१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति
दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ-स्वधा हूँ, घृत हूँ, अग्नि भव्य हूँ, मैं।
मंत्र और प्रक्रिया यज्ञ की, औषधि युक्त हव्य हूँ मैं॥ १६॥

माता, पिता, पितामह, धाता, जग का कर्णधार हूँ मैं।
सामवेद, ऋग्वेद, यजुर हूँ, पावन ओंकार हूँ मैं॥ १७॥

सुहृद, साक्षी, स्वामी, सद्गति, शरण, भरण, संधारण हूँ।
मैं निधान हूँ, प्रभव-प्रलय हूँ, अविनाशी हूँ, कारण हूँ॥ १८॥

सूर्य रूप में तपूं, ग्रहण कर जल, उसको बरसाता हूँ।
अर्जुन! मैं, सत् - असत्, अमृत हूँ, और मृत्यु का दाता हूँ॥ १९॥

तीनों वेदों के विधान से, कर्म सकाम किया करते,
यज्ञों का आयोजन करके, जो सोमरस पिया करते॥
मुझे पूज वे पुरुष, पुण्य फल रूप स्वर्ग को जाते हैं,
स्वर्ग लोक में दिव्य देवताओं जैसा सुख पाते हैं॥ २०॥

पुण्यों के क्षय होने तक, विस्तीर्ण स्वर्ग में सुख पाते,
पुण्य क्षीण होते ही वापस, मृत्यु लोक में आ जाते॥
वेदों के अनुसार, कामना से जो कर्म करे नाना,
जग से स्वर्ग, स्वर्ग से जग में लगा रहे आना जाना॥ २१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

नित्य निरंतर मेरा चिंतन, मुझ पर जिनकी निर्भरता।
मुझे भजें जो, योग-क्षेम मैं, उनका स्वयं वहन करता॥ २२॥

अन्य देवता का पूजन, अर्जुन! श्रद्धा से कहीं हुआ।
मैं ही पूजा गया, भले ही पूजन विधिवत नहीं हुआ॥ २३॥

मैं यज्ञों का स्वामी हूँ, मेरे ही लिए यजन होता।
नहीं तत्वतः जाने मुझको, उनका शीघ्र पतन होता॥ २४॥

सुर पूजे सुर मिलें, पितर मिलते, यदि वे पूजे जायें।
भूत पूज कर भूत मिलें, मुझको पूजें, मुझ को पायें॥ २५॥

पत्र, पुष्प, फल, जल यदि मेरा, भक्त मुझे अर्पण करता।
शुद्ध-बुद्धि निष्काम भक्त का, मैं वह भोग ग्रहण करता॥ २६॥

कर्म करे जो, दान करे जो, हवन करे, जो भी खाये।
जो तप करे, पार्थ! वह सब कुछ, अर्पण मुझे किया जाये॥ २७॥

सभी शुभाशुभ कर्मों का, बंधन तेरा समाप्त होगा।
हो विमुक्त, संयुक्त चित्त वाला, तू मुझे प्राप्त होगा॥ २८॥

भूत न अप्रिय या प्रिय, सब में, है मेरी ही व्यापकता।
मुझमें है वह भक्त भजे जो मुझे प्रत्यक्ष देख सकता॥ २९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

दृढ़ निश्चय कर, यदि अनन्यतः, मुझको भजे दुराचारी।
उसको मानो साधु, भजन की, जो जानें महिमा सारी॥ ३०॥

शाश्वत परम शांति पाये वह, धर्म परायण बन जाता।
अर्जुन! निश्चित जान, नाश को, मेरा भक्त नहीं पाता॥ ३१॥

स्त्री, वैश्य, शूद्र अथवा जो, पाप योनि से आते हैं।
पाकर मेरी शरण पार्थ! वे, सभी परम गति पाते हैं॥ ३२॥

भक्तियुक्त राजर्षि, पुण्यमय पण्डित भजें, सहज मुझको।
तू अनित्य, सुखरहित लोक में, नित्य निरंतर भज मुझको॥ ३३॥

मुझे नमन, पूजन कर मन से, अगर भक्त बन जायेगा।
आत्म युक्त, मेरे शारणागत हो, तो मुझको पायेगा॥ ३४॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

दसवाँ अध्याय

भगवन् बोले - फिर सुन मेरे, परम प्रभावी वचन पार्थ!।
तेरा मुझसे है अमित प्रेम, मैं कहता हूं तेरे हितार्थ॥ १॥

देवों, ऋषियों के उद्भव का मैं हूँ कारण, इस कारण।
वे न जानते लीला से, मेरा प्राकट्य असाधारण॥ २॥

लोकों का ईश्वर अनादि हूं, जो यह तत्व जानते हैं।
कटते उनके पाप, 'अजन्मा' जो जन मुझे मानते हैं॥ ३॥

ज्ञान, क्षमा, निर्मोह, सत्य, मति, प्रजनन और प्रलय होना।
मन का निग्रह, इंद्रिय संयम, सुख-दुख, भय-निर्भय होना॥ ४॥

समता, दान, अहिंसा, अपयश-यश, संतोष और तप भी।
नाना जीवों में आते हैं, मुझसे नाना भाव सभी॥ ५॥

सप्तर्षि, मुनि चार, सभी मनु, मेरी इच्छा से जन्मे।
प्रजा, जगत की है इनसे, मैं रहता हूँ इनके मन में॥ ६॥

जो मेरी विभूति को जाने, योग तत्व का ज्ञाता है।
इसमें संशय नहीं कि अविचल, भक्ति योग वह पाता है॥ ७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धामं पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

मुझ से जन्मा जगत, प्रवर्तित, मुझसे सभी चेष्टाएं।
ज्ञानवान यह मान, भक्ति-श्रद्धा से मेरे गुण गाएं॥८॥

मद्गत प्राण, चित्त भी मद्गत रखें, परस्पर कथा कहें।
मुझे जानते, मुझमें रमते, नित्य तुष्ट सर्वथा रहें॥९॥

सतत् ध्यान में लगे रहें जो, प्रेमपूर्वक गुण गाते।
ज्ञान-योग उनको देता मैं, जिससे वे मुझ को पाते॥१०॥

कर अनुकम्पा, अंधकार, अज्ञानजनित का नाश करूं।
बैठ हृदय में उनके ज्ञान-दीप से पार्थ! प्रकाश करूं॥११॥

बोले पार्थ- आप अति पावन, परम ब्रह्म सर्वत्र रहें।
दिव्य पुरुष, अज, परमधाम को, सब देवों का देव कहें॥१२॥

गाते यही देव ऋषि नारद, ऋषियों का मत रहा यही।
व्यास, असित, देवल सब कहते, और आपने कहा यही॥१३॥

केशव! कथन आपके मैंने, सत्य सर्वथा माने हैं।
प्रभु आपके रूप से दानव-देव सभी अनजाने हैं॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

श्रीभगवान उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

हे पुरुषोत्तम! आप, आपको केवल एकमेव जानें।
हे जगपति! भूतेश, भूतपति, सब देवाधिदेव माने॥ १५॥

आप बता सकते विभूतियां दिव्य, आपको प्राप्त रहें।
जिनके कारण सब लोकों में, आप सर्वदा व्याप्त रहें॥ १६॥

कैसे करूं निरंतर चिंतन, योगेश्वर को जानूं मैं।
किन-किन भावों से चिंतन के योग्य आपको मानूं मैं॥ १७॥

योग शक्ति एवं विभूति को, विस्तारित रूप में कहें।
अमृत वाणी से जनार्दन! मेरे श्रवण अतृप्त रहें॥ १८॥

भगवान् बोले - हैं विभूतियां दिव्य, सुनाता हूँ अर्जुन!
अंतहीन विस्तृत स्वरूप है, इससे मुख्य रूप में सुन॥ १९॥

सब भूतों के हृदयों में, स्थित आत्मा पार्थ! मैं हूँ।
आदि, मध्य, हूँ अंत, समूचे भूतों का यथार्थ मैं हूँ॥ २०॥

आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में दिनमान मान मुझको।
मरूतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्रमा जान मुझको॥ २१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में सुरेन्द्र हूँ मैं।
सभी इंद्रियों में मन, भूतों का चेतना केन्द्र हूँ मैं॥ २२॥

रुद्रों में शिव, यक्ष-राक्षसों, में कुबेर धन का स्वामी।
शिखरों में सुमेरु हूँ, वसुओं में हूँ अग्नि ऊर्द्धगामी॥ २३॥

पुरोहितों में गुरु वृहस्पति, अर्जुन! मुझको पहचानो।
जलाशयों में सिंधु, सैन्यपतियों में कार्तिकेय जानो॥ २४।

अक्षर ॐ सभी शब्दों में, ऋषियों में भृगु तपधारी।
यज्ञों में जप यज्ञ और स्थावर में हिमगिरि भारी॥ २५॥

नारद हूँ देवर्षि गणों में, तरु में पीपल गुणकारी।
गायक श्रेष्ठ चित्ररथ हूँ, सिद्धों में कपिल सिद्धिधारी॥ २६॥

उच्चैश्रवा अश्व हूँ जिसका, अमृत जन्मजात साथी।
नृपति नरों में और हाथियों में हूँ ऐरावत हाथी॥ २७॥

शस्त्रों में हूँ वज्र और मैं कामधेनु हूं गायों में।
सर्पों में वासुकि, काम हूँ, मैं उत्पत्ति उपायों में॥ २८॥

मैं नागों में शेष नाग, मैं वरुण जलचरों का स्वामी।
पितरों में अर्यमा और यम हूँ शासक बहु आयामी॥ २९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमाः॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

दैत्यों में प्रहलाद, सिंह हूँ, वन के जीवधारियों में।
गणनाओं में काल, गरुड़ हूँ, सारे गगनचारियों में॥ ३०॥

पवन श्रेष्ठ पावनकर्ता मैं, राम श्रेष्ठ आयुधधारी।
मत्स्यों में हूँ मगर, सलिल-श्रोतों में गंगा उपकारी॥ ३१॥

पार्थ! आदि हूँ, मध्य, अंत हूँ, जग का जग निधान हूँ मैं।
मैं वादों का वाद तत्व, ज्ञानों में ब्रह्मज्ञान हूँ मैं॥ ३२॥

द्वंद्व समास समासों में, मैं अक्षय काल कहाता हूँ।
वर्णों में ॐकार, विश्वतोमुख हूँ, भाग्य विधाता हूँ॥ ३३॥

नारी सुलभ क्षमा, मेधा, धृति, वाक्, स्मृति, यशश्री मैं हूँ।
काल समष्टि नाशकारी, उद्भव का कारण भी मैं हूं॥ ३४॥

छन्दों में गायत्री हूँ, श्रुतियों में वृहत्साम गायन।
ऋतुओं में बसंत ऋतु हूँ, माहों में मास अग्रहायण॥ ३५॥

छल में जुआ, तेज तेजस्वी का, विजयी की जय मैं हूँ।
सात्त्विक भाव सात्त्विकों का, निर्णायक का निश्चय मैं हूँ॥ ३६॥

मुनियों में मैं वेदव्यास, यदुकुल में वासुदेव मैं हूँ।
मैं कवियों में शुक्र, पाण्डवों में अर्जुन स्वमेव मैं हूँ॥ ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

नीति, जीत के इच्छुक की मैं, दण्ड दमन अभियानों में।
मौन गुप्त भावों में हूँ मैं, तत्व ज्ञान सब ज्ञानों में॥ ३८॥

भूतों का उत्पत्ति बीज मैं, जीवन का कारण यथार्थ।
कोई मुझ से रहित नहीं, वह चर हो या हो अचर पार्थ!॥ ३९॥

सब विभूतियां दिव्य किसी ने, इनका अंत नहीं पाया।
इसीलिए अर्जुन! मैंने संक्षिप्त रूप में समझाया॥ ४०॥

जो वस्तुएं कांतिमय हों, ऐश्वर्ययुक्त हों शक्तिमान।
उनमें है मेरा तेज अंशतः, उसकी ही अभिव्यक्ति जान॥ ४१॥

अर्जुन! अधिक जानने का, तो शेष नहीं कोई कारण।
अपने एक अंश से मैं, करता हूँ, इस जग को धारण॥ ४२॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

श्रीभगवान उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्था।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले - दिया आपने, मुझको ज्ञान कृपा करके।
नष्ट हुआ अज्ञान, गूढ़ अति आत्मज्ञान को पा करके॥ १॥

भूतों की उत्पत्ति - प्रलय की, विस्तृत बात सुनी सारी।
कमलनयन अविनाशी की, जानी महिमा विस्मयकारी॥ २॥

कहा अपने प्रभु जैसा, वैसा ही रूप सुदर्शन है।
पुरुषोत्तम! अब विश्वरूप के, दर्शन करने का मन है॥ ३॥

आप अगर प्रभु मुझे, उक्त दर्शन के यथायोग्य पायें।
तो योगेश्वर! अविनाशी स्वरूप के दर्शन करवायें॥ ४॥

प्रभु बोले - सैकड़ों हजारों, रूप देख अर्जुन! मेरे।
नाना दिव्य रूप, आकृतियां विविध, वर्ण भी बहुतेरे॥ ५॥

मुझमें देख रुद्र, वसु, अश्विनि, मरुत और आदित्य सभी।
अर्जुन! रूप विचित्र देख जो, पहले देखे नहीं कभी॥ ६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकादिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

इस शरीर में एक जगह, स्थित जग सचराचर देखो।
जो कुछ अन्य देखना हो, अर्जुन! मेरे तन पर देखो॥ ७॥

ईश्वरीय माया, प्राकृत-नेत्रों से देख नहीं सकता।
दिव्य दृष्टि देता हूँ, देखो योग शक्ति की व्यापकता॥ ८॥

संजय बोले - राजन! यह कह योगेश्वर ने की माया।
दिव्य रूप - ऐश्वर्य युक्त, हरि, ने अर्जुन को दिखलाया॥ ९॥

मुख अनेक, आंखें अनगिनती, अमित करों में शस्त्र दिखे।
दिव्य गंध से लिप्त, दिव्य मालाएं एवं वस्त्र दिखे॥ १०॥

दिखा विराट रूप अति विस्तृत, विविध भव्य भूषणधारी।
सभी दिशाओं में मुख अद्भुत, दर्शन दिव्य चमत्कारी॥ ११॥

नभ मंडल में एक साथ यदि सूर्य सहस्त्रों उग आयें।
विश्व रूप की आभा के सदृश्य कदाचित हो पायें॥ १२॥

अर्जुन को देवाधि देव का अंतहीन विस्तार दिखा।
एक जगह पर विविध विभागों में विभक्त संसार दिखा॥ १३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत॥ १४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च
सर्वानुरगांश्च दिव्यान्। १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि
त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं
सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं
समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

तब विस्मित, रोमांचित हो, सिर झुका, किया प्रभु का वंदन।
हाथ जोड़ कर प्रभु से करने लगे विनय कुंतीनंदन!॥ १४॥

अर्जुन बोले - देव आपके तन पर दिखी सृष्टि सारी।
दिखे देवता सारे, समुदायों में सभी जीवधारी॥
कमल नाल पर दिखे विधाता, शिवशंकर प्रलयंकारी।
दिखे जगत के सारे ऋषिगण, दिव्य नागगण मणिधारी॥ १५॥

अमित उदर, मुख, आंखों, बाहों वाला विश्व रूप देखा।
हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामी! मैंने सब अनूप देखा।
इस स्वरूप का मुझको कोई, आदि न, मध्य न, अंत दिखा।
सभी दिशाओं में विस्तारित, प्रभु का रूप अनंत दिखा॥ १६॥

माथे मुकुट किरीट, करों में करके चक्र, गदा धारण।
चारों ओर प्रकाशित तेज-पुंज की दीप्ति असाधारण॥
अप्रमेय द्युति, अग्नि प्रज्वलित, तप्त सूर्य सदृश्य दिखे।
जिन्हें देखना अति असाध्य, मुझको वह सारे दृश्य दिखे॥ १७॥

हैं आप ही परम अक्षर प्रभु, ब्रह्म जिसे जाना जाये।
और आप ही हैं जिसके चरणों में जगत शरण पाये।
अव्यय आप, आपके द्वारा, रक्षित धर्म शाश्वत है।
आप सनातन परम पुरुष हैं, ऐसा मेरा दृढ़ मत है॥ १८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं
शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्ताहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते
त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरूपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा
लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

आदि न मध्य न अंत आपका, हैं प्रभु की अगणित बाहैं।
है सामर्थ्य अनंत आपकी, आंखें सूर्य चन्द्रमा हैं॥
देख रहा हूँ, मुख से निकल रही जाज्वल्यमान ज्वाला।
तेज आपका हे तेजस्वी, जगत तप्त करने वाला॥ १९॥

दिग-दिगंत तक भूमि-भुवन, प्रभु के स्वरूप से भरा हुआ।
अद्भुत उग्र स्वरूप देख, त्रैलोक्य व्यथित है, डरा हुआ॥ २०॥

देवताओं के दल के दल, खुद ही आप में समाते हैं।
और शेष सुरगण डर-डर के, गीत आपके गाते है।
सिद्धों के समुदाय और ऋषिगण सब स्वस्ति स्वस्ति कहकर।
स्तोत्रों से कर रहे स्तुति, जय जय बोलें रह-रहकर॥ २१॥

ग्यारह रूद्र, आठ वसु, बारह साध्य, अश्विनी दो भ्राता।
विश्वदेव दस, सप्त पितृगण, जिन्हें तप्त भोजन भाता॥
यक्ष, असुर, गंधर्व, सिद्ध, आदित्य, पवन के दल सारे।
देख रहे आपको चकित हो, सारे विस्मय के मारे॥ २२॥

पैर बहुत से, उदर बहुत से, और बहुत ही जंघाएं।
हैं दाड़ें विकराल बहुत सी, जिन्हें देख सब भय खाएं॥
मुख हैं बहुत, बहुत हैं बाहें, आंखें बहुत-बहुत सारी।
मैं हूँ व्यथित, व्यथित सब प्राणी, रूप देखकर भयकारी॥ २३॥

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव
कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

रूप विविध वर्णों वाला, आकार गगन छूने वाला।
मुख अति विस्तारित, नेत्रों से जैसे टपक रही ज्वाला।
अंतःकरण, देखकर ऐसा रूप भयानक डरता है।
हे हरि! शांत नहीं रहता मन, क्षण भर धैर्य न धरता है॥ २४॥

दाड़े विकृत, मुख में प्रलयंकारी पावक की ज्वाला।
देख भयंकर दृश्य मुझे, आनंद नहीं मिलने वाला।
हे देवेश! दिग्भ्रमित हूँ, खोया है सारा दिशा ज्ञान।
इसलिए प्रार्थना है प्रसन्न हों, जग निवास हे! जग निधान!॥ २५॥

वे सारे धृतराष्ट्र पुत्र, राजाओं के दल बहुतेरे।
द्रोण, भीष्म, वह कर्ण और हैं, कुछ सेनानायक मेरे॥ २६॥

खुले हुए विकराल मुखों में, सारे त्वरित समाते हैं।
विकृत दांतों में फंस कुछ सिर चूर-चूर हो जाते हैं॥ २७॥

नदियों के जैसे प्रवाह, सागर के सम्मुख आते हैं।
ज्वाला में आपके मुखों की, जग के वीर समाते हैं॥ २८॥

लौ के पास पतंगे जलने, ज्यों तेजी से आते हैं।
वेग सहित मुख में प्रवेश कर, प्राणी प्राण गंवाते हैं॥ २९॥

सब लोकों को चाट रहे, प्रज्वलित मुखों का ग्रास बना।
प्रभु! आपका प्रकाश उग्र हैं, तप्त जगत को त्रास बना॥ ३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु
ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

आप कौन हैं, उग्र रूप धारी, मुझको कुछ बतलाएं।
नमस्कार हे देव श्रेष्ठ! मुझ पर प्रसन्न अब हो जाएं॥
इच्छा हैं, हे आदि पुरुष! मैं जान सकूं बातें सारी।
मुझे आपकी इस प्रवृत्ति की, कुछ भी नहीं जानकारी॥ ३१॥

श्रीभगवान उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति
सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

प्रभु बोले - जो महाकाल, से बढ़कर, जीवों को मारे।
मैं आया हूँ, यहां नाश को होंगे प्राप्त बहुत सारे॥
प्रतिपक्षी सेना में शामिल हैं जो योद्धा बड़े-बड़े।
वे सारे मारे जायेंगे, रण में, तेरे बिना लड़े॥ ३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं
भव सव्यसाचिन्। ३३॥

उठ तू जीत शत्रुओं को, कब-कब ऐसा संयोग मिले।
यश होगा ही प्राप्त और समृद्ध राज्य का भोग मिले॥
हैं जितने भी शूरवीर, उन सबको मार चुका हूँ मैं।
तू बन सके निमित्त पार्थ! केवल इसलिए रुका हूँ मैं॥ ३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं
तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्य जेतासि रणे सपत्नान्। ३४॥

भीष्म-पितामह, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ-से महारथी सारे।
अन्य कई योद्धा बहुतेरे, मैंने अभी-अभी मारे॥
इन मृतकों को मार शीघ्र, अर्जुन! तुम अपना नाम का करो।
विजय वैरियों पर निश्चित है, इसीलिए संग्राम करो॥ ३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य
विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

संजय बोले - केशव के यह, सुन कर वचन अभयकारी।
हाथ जोड़कर नमस्कार कर सके, किरीट-मुकुटधारी॥
थे भयभीत और कम्पित थी देह, किंतु वे चुप न रहे।
कर प्रणाम गद्गद् वाणी में, केशव से यह वचन कहे॥ ३५॥

बोले पार्थ - जगत सारा, प्रभु गुण आपके गा रहा है।
हर्षित रहता और आपका भी अनुराग पा रहा है॥
सिद्धों के समुदाय समूचे, सादर नमस्कार करते।
पर दानव दल दिशा-दिशा में, भाग रहे डरते-डरते॥ ३६॥

ब्रह्मा के भी आप आदिकर्ता हैं, आप ज्येष्ठतम हैं।
वंदन क्यों न करें आपका, जग में आप श्रेष्ठतम हैं॥
हे महात्मन! आप देव देवेश, अनंत जगत स्वामी।
परे असत् से, सत् से, परम ब्रह्म अक्षर अंतर्यामी॥ ३७॥

आदि देव हैं आप, सनातन पुरुष, जगत आश्रयदाता।
परम जानने योग्य आप हैं, प्रभु है आप परम ज्ञाता॥
अनगिनती हैं रूप आपके, अद्भुत और चमत्कारी।
परम धाम हैं आप, आपसे है परिपूर्ण सृष्टि सारी॥ ३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरूणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ ४३॥

वरुण, वायु, चंद्रमा आप हैं, यम हैं, अग्नि भयावह हैं।
आप प्रजा के स्वामी ब्रह्मा, ब्रह्मा के प्रपितामह हैं॥
नमन आपको-नमन आपको, नमन हजारों बार करूं।
पुनः-पुनः है नमन, आपका वंदन बारम्बार करूं॥ ३९॥

अमित पराक्रम और अमित सामर्थ्य-शक्ति के स्वामी हैं।
व्याप्त समूची संसृति में हैं, शाश्वत अंतर्यामी हैं॥
सम्मुख से प्रणाम है, पीछे, ओर-छोर से वंदन है।
सभी ओर हैं आप, आपको सभी ओर से वंदन है॥ ४०॥

जाने बिना प्रभाव प्रेम वश, सदा सखा मानता रहा।
हठ से, मद के साथ, हे सखे, हे यादव, हे कृष्ण कहा॥ ४१॥

आसन, शयन, बिहार और आहार आदि के समय कभी।
कहा हास्य के लिए अकेले में, या जब हों लोग सभी॥
उन अपमानजनक बातों पर, हे प्रभु! तनिक न ध्यान धरें।
अपरिमेय है क्षमाशीलता, क्षमा करें, प्रभु! क्षमा करें॥ ४२॥

परम पिता हैं आप चराचर के, हैं जग के निर्माता।
सब गुरु जन में श्रेष्ठ, आपको सर्वप्रथम पूजा जाता॥
तीन लोक में नहीं एक भी, जो आपके बराबर हो।
हे तेजस्वी! कैसे संभव है, कोई भी बढ़कर हो॥ ४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

होकर के साष्टांग, आपके चरणों में सिर धरता हूँ।
हे स्तुत्य! प्रसन्न आप हों, यही प्रार्थना करता हूँ॥
सखा-मित्र, प्रिय-प्रिया, पिता-सुत की सब त्रुटियां सहते हैं।
सहनशील प्रभु आप, धृष्टता पर मेरी चुप रहते हैं॥ ४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

देखा नहीं कभी जो पहले, विश्व रूप विस्मयकारी।
देख रूप हर्षित हूँ, पर भय से है मन व्याकुल भारी॥
जग निवास! देवाधि देव! मुझ पर प्रसन्न अब हो जाएं।
विष्णु रूप अपना चतुर्भुजी, मुझे कृपा कर दिखलाएं॥ ४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि
त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

मेरी इच्छा तीव्र, आपका सुन्दर रूप सदा देखूं।
माथे मुकुट-किरीट और हाथों में चक्र-गदा देखूं॥
त्याग हजारों हाथों वाला, विश्वरूप विस्मयकारी।
सौम्य रूप में दर्शन दो, बन जाओ चार भुजाधारी॥ ४६॥

श्रीभगवान उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

भगवन् बोले - अर्जुन! मैंने, इसके तुम्हें योग्य पाया।
मैंने ही प्रसन्न हो, विश्वरूप का दर्शन करवाया॥
तुमने देखी अंतहीन, जो तेजोमय मेरी माया।
तुमसे पहले इसे आज तक, कोई देख नहीं पाया॥ ४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च
क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

करे वेद का अध्ययन कोई, यज्ञ करे या दान करे।
उग्र तपस्या करे, क्रियाओं का विधि सहित विधान करे॥
मानव लोक समूचा सारे ही प्रयास करते आया।
अन्य किसी ने विश्वरूप का दर्शन पार्थ! नहीं पाया॥ ४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

विकट रूप ने तुझे किया सम्मोहित-व्याकुल कर डाला।
भय तज, रूप निहार प्रेम से, फिर से चार भुजा वाला॥ ४९॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले - इतना कहकर, अर्जुन का जो मन भाया।
वासुदेव ने वही चतुर्भुज, रूप पार्थ को दिखलाया॥
भयाक्रांत अर्जुन का जिससे, साहस धीरज रहे बना।
सुंदर सौम्य रूप में प्रकटे, वासुदेव प्रभु महामना॥ ५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्टवेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

बोले पार्थ - देखकर मानव रूप सौम्य निर्भयकारी।
स्थिर चित्त, सचेत हो गया, कृष्ण! आपका आभारी॥ ५१॥

श्रीभगवान उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

प्रभु बोले - दुर्लभ स्वरूप है, तुमने देखा जिसे अभी।
आकांक्षा इसके दर्शन की, रखते हैं देवता सभी॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो
मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः
स मामेति पाण्डव॥५५॥

मेरे इस स्वरूप के तुमने, जिस प्रकार दर्शन पाये।
दुर्लभ, दान, यज्ञ, तप कर ले अथवा वेद पढ़ा जाये॥५३॥

मेरे भक्त अनन्य पार्थ! यह मेरा रूप देख पाते।
वही तत्वतः मुझे जानते, मुझमें वही समा जाते॥५४॥

हे अर्जुन! जो मुझे समर्पित करके सारे कर्म करे।
मेरा भक्त, परायण मेरे, रागद्वेष से रहे परे॥
वैर-भाव से रहित, सभी जीवों को जो अपनाता है।
अर्जुन! ऐसा पुरुष अंततः, परम पुरुष को पाता है॥५५॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

श्रीभगवान उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगचिन्तन्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले - भक्त सतत जो, सगुण रूप को भजते हैं।
या जिनकी निष्ठा निर्गुण में, किसको श्रेष्ठ समझते हैं ?॥ १॥

प्रभु बोले - एकाग्र चित्त मुझमें जिनकी श्रद्धा होगी।
सगुण रूप को सतत् समर्पित योगी है, उत्तम योगी॥ २॥

जिनकी निर्गुण में निष्ठा, जो मन-इंद्रिय का मोह तजें।
अकथनीय, समरस, अविनाशी, अचल, नित्य को नित्य भजें॥ ३॥

जो सब जीवों के हित में, सम भाव सदा अपनाते है।
करते निर्गुण की उपासना, पर मुझको ही पाते हैं॥ ४॥

यदि आसक्त चित्त, निर्गुण को साधे तो परिश्रम होगा।
देह गर्व के कारण, साधक की गति में व्यतिक्रम में होगा॥ ५॥

मेरे आश्रित रहते, सारे कर्म मुझे अर्पित करते।
भक्ति अनन्य, निरंतर चिंतन, मेरा सदा ध्यान धरते॥ ६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ ९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्। ११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

मुझमें चित्त लगाते, उनका मैं तुरंत उद्धार करूं।
मृत्युरूप भव सागर से, भक्तों का बेड़ा पार करूं॥ ७॥

मन को मुझ में लगा और मुझ में स्थापित कर मति को।
निस्संदेह मुझमें निवास होगा, पायेगा सद्गति को॥ ८॥

मुझमें लगे न मन यदि अर्जुन! नियमित योगाभ्यास करो।
मुझे प्राप्त करने की इच्छा से अनवरत प्रयास करो॥ ९॥

सभी कर्म मुझको अर्पित कर, यदि अभ्यास असंभव है।
मुझे समर्पित कर्म करें तो, मुझको पाना संभव है॥ १०॥

मेरे आश्रित होकर साधन करने में यदि असफल हो।
बुद्धि और मन जीतो, त्यागो कर्मों का जो भी फल हो॥ ११॥

श्रेष्ठ ज्ञान है, अभ्यासों से, ध्यान, ज्ञान से उत्तम है।
त्याग, ध्यान से श्रेष्ठ, त्याग तो परम शांति का उद्गम है॥ १२॥

सब जीवों पर दया-प्रेम हो, लेकिन न हो मोह-ममता।
द्वेष-दर्प-गत, क्षमावान हो, दुख में-सुख में हो समता॥ १३॥

सतत-संयमी, तुष्ट, दृढ़व्रती, मेरा जिसे सहारा है।
मुझे बुद्धि-मन करे समर्पित, मुझे भक्त वह प्यारा है॥ १४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

करे न जो उद्विग्न, प्राणियों से उद्वेग नहीं पाता।
भय-उद्वेग, अमर्ष-हर्ष से, जो है मुक्त मुझे भाता॥ १५॥

दक्ष, शुद्ध, निरपेक्ष, व्यथागत, उदासीन हो जाता है।
सर्वारम्भ त्यागने वाला, मुझको भक्त सुहाता है॥ १६॥

हर्षित-शोकित नहीं, कामना नहीं, किसी से द्वेष नहीं।
भक्तियुक्त वह जन प्रिय जिसके, अशुभ और शुभ शेष नहीं॥ १७॥

शत्रु-मित्र सम लगें और सम, मान और अपमान लगे।
अनासक्त वह, सुख-दुख, सरदी-गर्मी, जिसे समान लगे॥ १८॥

मौनी, निंदा-स्तुति में सम, तुष्ट जहां जैसी गति हो।
अनासक्त अनिकेत भक्त प्रिय है, जिसकी स्थिर मति हो॥ १९॥

पान करे जो उक्त धर्ममय, मेरी वचनामृत्त धारा।
श्रद्धावान, परायण मुझ में, भक्त मुझे अतिशय प्यारा॥ २०॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

इंद शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चतैः॥ ४॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

तेरहवाँ अध्याय

भगवन बोले - अर्जुन! इस शरीर को 'क्षेत्र' कहा जाता।
ज्ञानी-जन 'क्षेत्रज्ञ' उसे कहते, जो है इसका ज्ञाता॥ १॥

सारे ही क्षेत्रों का हूँ क्षेत्रज्ञ, धनंजय! जान मुझे।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान, लगता है सच्चा ज्ञान मुझे॥ २॥

जो है, जैसा क्षेत्र हुआ जिस कारण, लिप्त विकार सुनो।
जो जैसा क्षेत्रज्ञ, सभी का क्या प्रभाव है, सार सुनो॥ ३॥

ऋषियों ने बहुभांति इसे, गीतों में, छन्दों में गाया।
ब्रह्मसूत्र के विविध पदों में भी इसका विवरण आया॥ ४॥

अहं, बुद्धि, मन, प्रकृति, पवन, पावक, नभ, धरा और जल भी।
दसों इन्द्रियां और रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श सभी॥ ५॥

इच्छा, सुख, दुख, द्वेष, चेतना, धैर्य और मानव काया।
और क्षेत्र के अंतर्गत है, सभी विकारों की माया॥ ६॥

क्षमा, अहिंसा, दम्भ-हीनता, नम्र, सरल आचरण रहे।
गुरुसेवा, शुचिता, संयम हो, स्थिर अंतःकरण रहे॥ ७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ ८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

रोग-जरा के, जन्म-मृत्यु के, दुख पर नित्य विचार करे।
इन्द्रिय विषयों से विरक्त हो, मन को निरहंकार करे॥ ८॥

गृह, गृहिणी, धन, पुत्र आदि के, प्रति अभाव हो ममता का।
अप्रिय मिले, या कि अतिप्रिय हो, सदा भाव हो समता का॥ ९॥

अव्यभिचारी भक्ति योग के साथ अनन्य नितांत रहे।
जन समुदायों से विरक्ति हो, शुद्ध देश, एकान्त रहे॥ १०॥

तत्त्व ज्ञान, अध्यात्म ज्ञान, ईश्वर के दर्शन करवाता।
यही ज्ञान है, जो विपरीत रहे अज्ञान कहा जाता॥ ११॥

अब जो कहता हूँ, मनुष्य के लिए परम सुखदायक है।
है अनादि, सत-असत् नहीं, वह ब्रह्म जानने लायक है॥ १२॥

हाथ, पैर, सिर, आँख, कान, मुख, और शीश सब ओर रहे।
व्याप्त रहे पूरी संसृति में, जिसका ओर न छोर रहे॥ १३॥

इन्द्रिय विषयों का ज्ञाता, पर धारण उन्हें नहीं करता।
निर्गुण है पर गुण को भोगे, अनासक्त कर्ता-धर्ता॥ १४॥

सब भूतों के भीतर-बाहर स्थित है, सचराचर है।
अतिसमीप, अतिदूर और अतिसूक्ष्म, समझ से बाहर है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्मसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

प्रकृतिं पुरूषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्। १९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

अविभाजित है, किंतु अंश हैं उसका, सभी जीवधारी।
ज्ञेय, सृजक ब्रह्मा, हरि पालक, एवं शिव प्रलयंकारी॥ १६॥

है वह ज्योति, ज्योतियों की, माया के तम से सदा परे।
ज्ञान गम्य है, ज्ञेय, ज्ञान है, सब हृदयों में वास करे॥ १७॥

क्षेत्र, ज्ञेय का और ज्ञान का, विवरण यहां समाप्त हुआ।
भक्त मुझे पाता है, जिसको तत्व ज्ञान यह प्राप्त हुआ॥ १८॥

प्रकृति - पुरुष, दोनों अनादि हैं, इनको सविस्तार जानो।
लेते जन्म प्रकृति से तीनों गुण, सारे विकार जानो॥ १९॥

'कार्य' 'करण' दोनों का हेतुक प्रकृति, वही निर्माण करे।
सुख-दुख का हेतुक प्राणी है, जिसका अनुभव प्राण करे॥ २०॥

लोग प्रकृतिवश त्रिगुणात्मक भोगों को भोगें जीवन में।
जैसे गुण का संग करें, सद्-असद् योनि में फिर जन्में॥ २१॥

उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर है।
देह स्थित यह जीव आत्मा, परम ब्रह्म परमेश्वर है॥ २२॥

पुरुष-प्रकृति के गुण का, जिस मानव ने सार तत्व जाना।
कर सारे कर्तव्य कर्म, रुकता उसका जाना-आना॥ २३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

कितने ही जन दर्शन पाने, आत्मिक ध्यान लगाते हैं।
ज्ञान योग अपनाते कुछ, कुछ कर्म योग अपनाते हैं॥ २४॥

पर कुछ लोग, अन्य से केवल सुनकर उपासना करते।
श्रवण परायण वे जन भी, सर्वदा मृत्यु सागर तरते॥ २५॥

सभी चराचर जीवों के उद्भव का एक यथार्थ सुनो।
मिलने से क्षेत्रज्ञ-क्षेत्र के, जीव जन्मते, पार्थ! सुनो॥ २६॥

नष्ट हो रहे जीवों में भी, अविनाशी ईश्वर देखे।
उसकी दृष्टि-दृष्टि है जो, सम-दृष्टि सदा रखकर, देखे॥ २७॥

जो रखता सम-भाव सभी में, ईश्वर के दर्शन करता।
वह पाता गति परम, अगर वह तन के साथ नहीं मरता॥ २८॥

जिस मनुष्य को प्रकृति कर रही है सब कृत्य, दिखाई दे।
और अकर्ता दिखे आत्मा, उसको सत्य दिखाई दे॥ २९॥

विविध भाव, भूतों के जिसको प्रभु में एकाकार दिखे।
वह पाता गति परम जिसे, उन तक प्रभु का विस्तार दिखे॥ ३०॥

अर्जुन! परमेश्वर अनादि निर्गुण एवं अविनाशी है।
लिप्त न हो, कुछ करे नहीं, वह तन का सिर्फ निवासी है॥ ३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

लिप्त न होता सूक्ष्म गगन, सर्वत्र भले हो व्यापकता।
वैसे ही आत्मा, देह के गुण में लिप्त न हो सकता॥ ३२॥

एक अकेला सूर्य सभी लोकों को आलोकित करता।
वैसे ही क्षेत्रज्ञ, क्षेत्र में, अर्जुन! सद्-प्रकाश भरता॥ ३३॥

ज्ञानचक्षु को खोल-तत्वतः, मुक्त प्रकृति से हो जाये।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भेद जाने तो परम ब्रह्म पाये॥ ३४॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

चौदहवाँ अध्याय

प्रभु बोले - कहता हूँ फिर जो, उत्तम ज्ञान कहा जाये।
जिसे जानकर सारे मुनिजन, होकर मुक्त, सिद्धि पाये॥ १॥

जो जन पा यह ज्ञान परम, मेरे स्वरूप को प्राप्त करे।
आदि सृष्टि के समय न जन्मे, प्रलय न उसे समाप्त करे॥ २॥

मूल प्रकृति है योनि, गर्भ में करती चेतन को धारण।
है संयोग यही अर्जुन! भूतों के उद्भव का कारण॥ ३॥

सभी योनियों में अर्जुन! जो जीव जन्म को पाता है।
मैं बोता हूँ बीज पिता बन, प्रकृति सभी की माता है॥ ४॥

प्रकृति जन्य सत-रज-तम, तीनों गुण के नाशवान बंधन।
अविनाशी आत्मा देह में, इनसे बंधे पृथानंदन!॥ ५॥

सतगुण निर्मल निर्विकार है, अनघ! प्रकाश प्रदान करे।
काम बांधने का प्राणी को, फिर सुख एवं ज्ञान करे॥ ६॥

पार्थ! रजोगुण की जननी हैं, तृष्णा और कामनाएं।
कर्म और फल के बंधन में, प्राणी बंधकर रह जाएं॥ ७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

पार्थ! तमोगुण देहविमोहित को अज्ञान जन्म देता।
प्राणी को निद्रा-प्रमाद-आलस्य, बांधकर रख लेता॥८॥

सुख में करे प्रवृत्त सत्वगुण, कर्म रजोगुण करवाता।
पार्थ! तमोगुण ढंके ज्ञान को, प्राणी पर प्रमाद छाता॥९॥

रजस-तमस को दबा सत्व, अर्जुन! प्रधानता पाता है।
सत-तम दबे बढ़े रज, रज-सत दबे, तमस छा जाता है॥१०॥

चेतनता से तन आलोकित, मन में जब विवेक छाये।
सतगुण तन में बढ़ा हुआ है, तब ऐसा माना जाये॥११॥

लोभ-लालसा बढ़ जाते हैं, अगर रजोगुण पार्थ! बढ़े।
बढ़े सकाम भाव कर्मों में, मन अशांत हो, स्वार्थ बढ़े॥१२॥

पार्थ! तमोगुण के बढ़ने से, मोह-प्रमाद जन्म पाये।
अप्रवृत्ति होती कर्मों में, मन में अंधकार छाये॥१३॥

सतगुण की वृद्धि के समय यदि, यह जीवन समाप्त होता।
उत्तम कार्य किए हैं, इससे उत्तम लोक प्राप्त होता॥१४॥

बढ़े रजोगुण में तन त्यागें, जन्मे मोहयुक्त जन में।
तजे तमोगुण में तन को तो, जन्मे पशुओं के तन में॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ २०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

श्रीभगवान उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

सात्विक कर्मों का परिणाम, हमेशा निर्मल होता है।
राजस का फल दुख, अज्ञान तमस का प्रतिफल होता है॥ १६॥

सत्व ज्ञान को पैदा करता, रजस लोभ को उपजाता।
मोह-प्रमाद-अज्ञता, तीनों का है तमस जन्मदाता॥ १७॥

उच्च लोक पाते सात्विक जन, राजस मृत्यु-लोक पाते।
पुरुष तामसी अधम वृत्ति के, अधम योनियों में जाते॥ १८॥

त्रिगुणों के अतिरिक्त जिसे, कर्ता ही नजर नहीं आता।
गुणातीत मुझको जाने तो, मेरा भाव जान पाता॥ १९॥

तीनों गुण तन रचते, जो जन, इनसे ऊपर उठ जाता।
जरा-जन्म-दुख-मृत्यु न बांधे, वह सुख का अमृत पाता॥ २०॥

पार्थ पूछते - प्रभु! कैसे त्रिगुणों से पुरुष पार पायें।
त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण और आचरण बतलायें॥ २१॥

भगवन् बोले - मिले प्रकाश, प्रवृति, मोह तो द्वेष न हो।
अर्जुन! अगर छूट जायें तो, फिर आकांक्षा शेष न हो॥ २२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

उसे न गुण विचलित करते, जो उदासीन हो जाता है।
जो गुण का वर्ताव समझ ले, वह स्थिरता पाता है॥ २३॥

आत्मनिष्ठ, जिसको सुख-दुख सम, सम मिट्टी-पत्थर-सोना।
धीर जिसे, प्रिय-अप्रिय सम है, सम निंदा-स्तुति होना॥ २४॥

मान और अपमान, मित्र-वैरी, के प्रति जो सम रहते।
परित्यागी सर्वारम्भों के, उनको गुणातीत कहते॥ २५॥

अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मुझ में रम जाये।
तीन गुणों को लांघ वह पुरुष, निश्चित परम ब्रह्म पाये॥ २६॥

परम ब्रह्म अविनाशी हूँ, अव्यय हूँ, सदा रहा करता।
मुझसे धर्म सनातन, मुझसे सुख का अमृत बहा करता॥ २७॥

अथ पंचदशोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं
प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि
यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा॥ ३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः
पदमव्ययं तत्॥ ५॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रभु बोले - यह विश्व सनातन पीपल तरु कहलाता है।
उर्ध्व मूल में ब्रह्म, अधः शाखा में स्वयं विधाता है॥
इस तरु के पत्तों-पत्तों में स्वयं वेद पाया जाता।
मूल सहित इस तरु को जाने जो, वह वेदों का ज्ञाता॥ १॥

तीन गुणों से बढ़तीं जातीं तीन योनि की शाखाएं।
विषय भोग की सूक्ष्म कोंपलें ऊपर नीचे छा जाएं॥
अहं वासना और मोह की जड़ें व्याप्त नीचे ऊपर।
कर्मों के अनुसार बांधती हैं यह, मानव को भूपर॥ २॥

आदि-अंत से रहित वृक्ष में, रही न वैसी व्यापकता।
दृढ़ जड़ वाले विश्व वृक्ष को, बस वैराग्य काट सकता॥ ३॥

फिर वह पद खोजें, जिन तक जा, पुरुष नहीं वापस आते।
उनकी शरणागति ले, जो इस विश्ववृक्ष को फैलाते॥ ४॥

जो आसक्ति दोष को जीते, मान मोह से दूर रहे।
कामनाओं से निवृत्त हो, आध्यात्म नित्य भरपूर रहे॥
मुक्त रहे उन द्वंद्वों से जो, दुख एवं सुख कहलाते।
वे ज्ञानी जन ही अविनाशी, दिव्य परम पद को पाते॥ ५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

दिव्यधाम को, रवि-शशि-पावक, भी न प्रकाशित कर पाते।
जो पाते पद परम, जगत में, नहीं लौट कर वे आते॥ ६॥

मेरा अंश सनातन, सब देहों में जीवन भरता है।
और वही मन और इंद्रियों को आकर्षित करता है॥ ७॥

जैसे पवन सुगंध ग्रहणकर, अपने साथ उड़ाता है।
मन, इन्द्रिय को प्राण साथ, नूतन तन में ले जाता है॥ ८॥

आंख, कान, मन, त्वचा, नाक, रसना पर होती निर्भरता।
जीव इन्हीं के माध्यम से, सब विषयों का सेवन करता॥ ९॥

तन में रहे, विषय को भोगे, और छोड़कर तन जाये।
ज्ञानचक्षु वाले ज्ञानी को दिखे, न मूढ़ देख पाये॥ १०॥

यत्न करें जो ज्ञानी वे ही, आत्म तत्त्व को पहचानें।
अज्ञानी, अपवित्र आत्मा वाले रहते अनजानें॥ ११॥

अखिल विश्व में तेज सूर्य के द्वारा गया बिखेरा है।
रवि का, शशि का और अग्नि का, तेज वस्तुतः मेरा है॥ १२॥

धारण करने भूतों को, वसुधा में स्वयं समाता हूँ।
करने पुष्ट औषधियों को बन चन्द्र, सुधा बरसाता हूँ॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

यो मामेवसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

सभी प्राणियों के शरीर में, बन कर अग्नि समाता हूँ।
चार भांति के अन्नों को, बन प्राण-अपान पचाता हूँ॥ १४॥

मन में बसता सबके विस्मृति, स्मृति, ज्ञान प्रदाता हूँ।
मैं कर्ता वेद का, वेद ज्ञातव्य, वेद का ज्ञाता हूँ॥ १५॥

जग में नश्वर और अनश्वर, होती हैं दो संज्ञाएं।
अविनाशी आत्मा, नाश को सब भूतों के तन पाएं॥ १६॥

इनसे परे अनश्वर ईश्वर, पुरुषोत्तम कहलाता है।
करने पोषण-भरण सभी का, तीन लोक में जाता है॥ १७॥

अमर आत्मा, जड़ जीवों से, मैं उत्तम माना जाता।
पुरुषोत्तम नाम से लोक में, वेदों में जाना जाता॥ १८॥

जो ज्ञानी जन मुझ पुरुषोत्तम को तत्वतः समझते हैं।
अर्जुन! वे सर्वज्ञ निरंतर, वासुदेव को भजते हैं॥ १९॥

गोपनीय यह शास्त्र कहा है, तुमसे मैंने पार्थ! अभी।
जान तत्वतः इसको होंगे, ज्ञानी और कृतार्थ सभी॥ २०॥

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवान उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

तेज क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

सोलहवाँ अध्याय

प्रभु बोले - तप, ज्ञान, यज्ञ, स्वाध्याय, पूर्ण-निर्मल होना।
ज्ञान योग में दृढ़ता, निर्भयता, सर्वथा सरल होना॥ १॥

सत्य, अहिंसा, त्याग, शांति, कोमलता एवं जीव दया।
लज्जावान, कुचेष्टा, निंदा, क्रोध, लोभगत पूर्णतया॥ २॥

धैर्य, क्षमा, शुद्धता, तेज, अद्रोह, नहीं चाहे वंदन।
ले दैवी सम्पदा जन्मते हैं, सत्पुरुष पृथानंदन॥ ३॥

दम्भ, दर्प, मद, क्रोध, अज्ञता, अतिकठोरता हो मन में।
पार्थ! यही लक्षण हैं, जो असुरी सम्पदा ले जन्में॥ ४॥

है देवी सम्पदा मोक्ष, आसुरी सम्पदा है बंधन।
तू जन्मा ले देव सम्पदा, शोक न कर कुंतीनंदन!॥ ५॥

दैवी और आसुरी दो हैं, प्रकृति लोक में हे अर्जुन!।
बहुत कहा दैवी, पर अब, आसुरी प्रकृति को विस्तृत सुन॥ ६॥

सत्य, शुद्धता, श्रेष्ठ आचरण, का उनमें अभाव होता।
निवृत्ति और प्रवृत्ति रहित, यह असुरों का स्वभाव होता॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्। १२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

वे कहते जग बिना ईश, बिन सत्य, बिना आधार बना।
है कौतुक काम का, परस्पर, मिलने से संसार बना॥ ८॥

आत्महीन, मतिमंद मनुज, बस यही धारणा धरते हैं।
क्रूर कर्म करते अपकारी, नाश जगत का करते हैं॥ ९॥

दम्भ-मान-मद युक्त मनुज की होतीं कठिन कामनाएं।
भ्रष्टाचारी, अज्ञानी, मिथ्या, मार्गों को अपनाएं॥ १०॥

होतीं हैं असंख्य चिंताएं, जीवन भर चिंतित रहते।
विषय भोग में तत्पर रहते, और इसी को सुख कहते॥ ११॥

काम-क्रोध के आश्रित, बंध आशाओं के सौ बंधन में।
विषय भोग के लिए न्याय तज, लगते वित्त प्रबंधन में॥ १२॥

यह उपलब्धि आज की, पूरी होंगी शेष कामनाएं।
वे सोचते आज धन पाया, आगे भी पाते जाऐं॥ १३॥

एक शत्रु को मारा, शेष सभी की भी हत्या होगी।
मैं ईश्वर, बलवान, सुखी मैं, मैं हूँ सिद्धि युक्त योगी॥ १४॥

किसके पास और है इतना, जन-धन-बल मेरे जैसा।
यज्ञ, दान, आनंद करूंगा, जैसा मैं चाहूँ वैसा॥ १५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

आत्मसम्भविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

भ्रमित चित्त, अज्ञान विमोहित, मोह जाल में घिरते हैं।
विषय भोग आसक्त असुर, अपवित्र नर्क में गिरते हैं॥ १६॥

धन-मद-मान-युक्त अभिमानी, खुद को श्रेष्ठ मानते हैं।
यज्ञ नाम के लिए, दम्भ से करते, विधि न जानते हैं॥ १७॥

दम्भ, दर्प, बल, क्रोध परायण, पर निंदा करते कामी।
द्वेष करें मुझसे, हर तन में बसता मैं अंतर्यामी॥ १८॥

क्रूर, नराधम, ईर्ष्यालु, भाता है पापाचार उन्हें।
मैं आसुरी योनि देता हूँ, इस जग में हर बार उन्हें॥ १९॥

जन्म-जन्म में योनि आसुरी, वे अज्ञानी पाते हैं।
मुझे न पाते पार्थ! इसलिए, घोर नर्क में जाते हैं॥ २०॥

तीन नर्क के द्वार, क्रोध, अति लालच, काम वासनाएं।
तीनों ही हैं आत्म विनाशक, तीनों त्याग दिए जाएं॥ २१॥

तीन नर्क के द्वारों से जो, पुरुष मुक्त हो जाता है।
करता शुभ आचरण पार्थ! जो, वही परम गति पाता है॥ २२॥

पर जो पुरुष शास्त्र विधि तजकर, करें आचरण मन माना।
उसके लिए असंभव है, सुख, सिद्धि, परम-गति का पाना॥ २३॥

कर्म-अकर्म शास्त्र में वर्णित, वह प्रमाण स्वीकार करो।
और कर्म तुम सभी शास्त्र सम्मत, विधि के अनुसार करो॥ २४॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

श्रीभगवान उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

सत्रहवाँ अध्याय

बोले पार्थ - शास्त्र विधि तजकर, यदि श्रद्धा से पूजन हो।
सत या रज या तम क्या होगी, उनकी श्रद्धा कृष्ण! कहो॥ १॥

प्रभु बोले - वह श्रद्धा होगी, उस जन पर निर्भर अर्जुन!।
सत, रज, तम जैसा स्वभाव, वैसी श्रद्धा होगी, तू सुन॥ २॥

अर्जुन! सबकी श्रद्धा वैसी, जैसा अंतःकरण रहे।
जैसी श्रद्धा होती जिसकी, वैसा ही आचरण रहे॥ ३॥

सात्विक पूजे देव, राजसी पूजे असुरों-यक्षों को।
वृत्ति तामसी जिनकी, पूजें भूत-प्रेत-समकक्षों को॥ ४॥

लोग घोर तप करें किंतु वे, नहीं शास्त्र विधि अपनाएं।
दर्प-दम्भ से युक्त बलवती हों आसक्ति, कामनाएं॥ ५॥

स्वयं आत्मा में रहता मैं, सारे भूतों के तन में।
इन्हें कृश करे मानो, असुर वृत्ति है अज्ञानी जन में॥ ६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥

अफलाकाङक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उज्यते॥१४॥

तीन तरह का भोजन सब लेते, रुचि के अनुसार सुनो।
यज्ञ, दान, तप तीनों के, होते हैं तीन प्रकार सुनो॥७॥

आयु, बुद्धि, बल, प्रेम, स्वास्थ्य, सुख जो आहार बढ़ाता है।
स्निग्ध, सरस, स्थिर मन चाहा, सात्विक जन को भाता है॥८॥

कटु, खट्टे, सूखे, तीखे, खारे, अति गर्म दाहकारी।
चिंता-रोग-कष्ट दाता भोजन, राजस को प्रिय भारी॥९॥

जो नीरस, अधपका गंध-वाला, बासा बच जाता है।
वह भोजन अपवित्र तामसीजन को बहुत सुहाता है॥१०॥

मान इसे कर्तव्य, विधि सहित, मन को साध लिया जाये।
फल की इच्छा बिना किया तो, यज्ञ सात्विक कहलाये॥११॥

फल की आशा, दम्भ प्रदर्शन को जो यज्ञ किया जाता।
भरत श्रेष्ठ! तू जान राजसी, वह आयोजन कहलाता॥१२॥

अन्नदान, दक्षिणा, मंत्र, श्रद्धा के बिना किया जाये।
बिना शास्त्र विधि किया गया, वह यज्ञ तामसी कहलाये॥१३॥

पूजें द्विज, गुरु, देव, सरलता एवं शुचिता से रहते।
ब्रह्मचर्य हो और अहिंसा, इसको दैहिक तप कहते॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

निर्भयकारी, हितकारी, प्रिय, सत्य नित्य बोला जाता।
स्वाध्याय, अभ्यास निरंतर, वाणी का तप कहलाता॥ १५॥

मन आनंदित, मौन, सौम्यता, भावों में शुचिता छाये।
मन पर निग्रह रहे निरंतर, यह मन का तप कहलाये॥ १६॥

फल की इच्छा बिना परमश्रद्धा के साथ किए जाते।
ऊपर वर्णित तीनों, सात्विक तप के अंतर्गत आते।॥ १७॥

दम्भ सहित, सत्कार, मान, पूजा के लिए किया जाता।
क्षणिक-अनिश्चित फल देने वाला, राजस तप कहलाता॥ १८॥

हठ से और मूढ़ता से, तन को दे कष्ट, किया जाता।
पर-अनिष्ट के लिए किया जाता, तामस तप कहलाता।॥ १९॥

पात्र अनुपकारी हो, देश, काल का ध्यान रखे दाता।
जो कर्तव्य मान कर करते, सात्विक दान कहा जाता॥ २०॥

प्रति उपकार और फल की इच्छा से दान दिया जाता।
दान क्लेशकारक होता, इसलिए राजसी कहलाता॥ २१॥

यदि कुपात्र को तिरस्कार से, बिन सम्मान दिया जाये।
देश काल भी अनुपयुक्त, तो दान तामसी कहलाये॥ २२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्त्येवाभिधीयते। २७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

ॐ और तत् सत् को ईश्वर, का निर्देश कहा जाता।
यही तीन हैं वेद, यज्ञ, ब्राह्मण के आदि जन्मदाता॥ २३॥

यज्ञ-दान-तप शास्त्रोक्त, विधि से जो करते रहते हैं।
वे वैदिकगण सबसे पहले, सिर्फ ॐ ही कहते हैं।॥ २४॥

तत् अर्थात सभी कुछ प्रभु का, इसी भाव से फल त्यागें।
यज्ञ-दान-तप विविध करें, प्रभु से बस एक मोक्ष मांगें॥ २५॥

साधुभाव-सद्भाव जहां, सत् का उपयोग किया जाता।
शुभ कार्यों में भी अर्जुन! सत् का ही नाम लिया जाता॥ २६॥

दान, यज्ञ, तप जो करता, सत् में स्थित हो जाता है।
यदि ईश्वर के लिए कर्म तो, वह भी सत् कहलाता है।॥ २७॥

श्रद्धा रहित दान, तप एवं हवन असत् कहलाते हैं।
लोक और परलोक कहीं भी, अर्जुन! काम न आते हैं॥ २८॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्नयासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

श्रीभगवान उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्तवा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले - हे केशव! सन्यास, त्याग के तत्व कहें।
उत्सुक हूँ, हृषिकेश कृष्ण! दोनों का पृथक महत्व कहें॥ १॥

प्रभु बोले - सन्यास, काम्यकर्मों का त्याग कहें ज्ञाता।
केवल फल का त्याग, ज्ञानियों द्वारा त्याग कहा जाता॥ २॥

कहते कुछ ज्ञानी कि त्याज्य हैं, दोषयुक्त हैं, कर्म सभी।
कुछ कहते तप, दान, यज्ञ यह कर्म न होते त्याज्य कभी॥ ३॥

पुरुषसिंह! त्याग के विषय में, मेरा अटल विचार सुनो।
भरतश्रेष्ठ! त्याग के कहे जाते हैं तीन प्रकार सुनो॥ ४॥

यज्ञ, दान, तप त्याज्य नहीं हैं, करने योग्य कहे जाते।
यज्ञ, दान, तप तो मनीषियों में भी पावनता लाते॥ ५॥

कर्म नहीं, आसक्ति कर्म की, और कर्म का फल अर्जुन!।
त्यागा जाये, यही त्याग है, मेरा निश्चित अभिमत सुन॥ ६॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ १४॥

नियत कर्म का त्याग किया जाना अनुचित माना जाये।
अगर मोहवश त्याग किया तो त्याग तामसी कहलाये॥ ७॥

दें काया को कष्ट कर्म, इस भय से यदि त्यागे जायें।
यह राजसी त्याग कहलाता, मिलती सिर्फ विफलताएं॥ ८॥

नियत कर्म, कर्तव्य मान कर पूर्ण करें, आसिक्त न हो।
सात्विक त्याग यही है, अर्जुन! यदि फल में अनुरक्ति न हो॥ ९॥

द्वेष नहीं अकुशल कर्मों से, नहीं कुशल के अनुरागी।
वे सत्वस्थ पुरुष मेधावी, निस्संदेह सच्चे त्यागी।॥ १०॥

कर्म किए बिन किसी देहधारी से नहीं रहा जाता।
त्याग करे जो कर्मों का फल, त्यागी वहीं कहा जाता॥ ११॥

मरने पर कर्म का अशुभ-शुभ-मिश्रित फल भोगते सभी।
जिसने फल का त्याग किया उसको न कर्म फल मिले कभी॥ १२॥

कर्म सिद्धि के होते हेतुक पांच, अंत यदि करना हो।
सांख्य शास्त्र में वर्णित हैं, तू मुझसे समझ महाबाहो!॥ १३॥

आश्रय, कर्ता, करण-विविध, जिनसे वह कर्म किया जाता।
भिन्न चेष्टाएं चौथी हैं, दैव पांचवा कहलाता॥ १४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

जब मनुष्य तन-मन-वाणी से अच्छे बुरे कर्म करता।
इन्ही पांच कारण पर रहती है कर्मों की निर्भरता॥ १५॥

अगर आत्मा को ही कर्ता, हीन-बुद्धि जन ने माना।
मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी है, यथार्थ से अनजाना॥ १६॥

बुद्धि रहे निर्लिप्त, भाव कर्ता का नहीं धारता है।
बंधे न, जग को अगर मारता, फिर भी नहीं मारता है॥ १७॥

तीन तरह की कर्म प्रेरणा, ज्ञेय, ज्ञान एवं ज्ञाता।
कर्ता-करण-क्रिया-तीनों से मिल कर कर्म किया जाता॥ १८॥

ज्ञान-कर्म-कर्ता भी बंटते ले गुण का आधार सुनो।
सांख्य शास्त्र में वर्णित हैं तीनों के तीन प्रकार सुनो॥ १९॥

ज्ञान विभाजित भूतों में, अविभाजित अव्यय दिखलाये।
समता का यदि भाव समाहित, सात्विक ज्ञान कहा जाये॥ २०॥

अलग-अलग भूतों में अलग-अलग भावों को दिखलाता।
बहुदर्शी यह ज्ञान वस्तुतः, ज्ञान राजसी कहलाता॥ २१॥

केवल कार्यरूप काया में जो आसक्ति पूर्ण पाता।
युक्ति-अर्थ से रहित तुच्छ वह तामस ज्ञान कहा जाता॥ २२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

नियत कर्म, आसक्ति रहित हो, राग नहीं हो, द्वेष न हो।
सात्विक ज्ञान कहा जाता यदि फल की इच्छा शेष न हो॥ २३॥

कामेच्छा से, बहुत परिश्रम से जो कर्म किया जाता।
किया अहंकारी ने जो वह कर्म राजसी कहलाता॥ २४॥

जब सामर्थ्य, हानि, हिंसा, परिणाम नहीं देखा जाता।
होता जो आरंभ मोह से, कर्म तामसी कहलाता॥ २५॥

निरासक्त, अभिमान रहित, उत्साही, धैर्य नहीं खोता।
कहलाता सात्विक कर्ता, फल के प्रति निर्विकार होता॥ २६॥

राग, लोभ, हिंसा, अशुद्धता, फल का मोह नहीं जाता।
हर्ष-शोक में लिप्त रहे, वह राजस कर्ता कहलाता॥ २७॥

धूर्त, घमंडी, अनुपयुक्त, परजीवी, अनपढ़ अलसाता।
दीर्घसूत्री और विषादी, तामस कर्ता कहलाता॥ २८॥

बुद्धि और धृति के भी गुण अनुसार भेद होते अर्जुन।
दोनों के तीनों भेदों को सविस्तार कहता हूं सुन॥ २९॥

जो प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग, भय-अभय मोक्ष एवं बंधन।
कर्म-अकर्म जानती है, वह सात्विक बुद्धि पृथानंदन!॥ ३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

क्या है कर्म-अकर्म पार्थ! जो बुद्धि नहीं समझा पाती।
धर्म-अधर्म नहीं जाने वह बुद्धि राजसी कहलाती॥ ३१॥

उल्टे अर्थ बता अधर्म को ही जो धर्म बताती है।
तम से घिरी बुद्धि अर्जुन! तामसी बुद्धि कहलाती॥ ३२॥

इन्द्रिय-मन-प्राण की क्रियाओं का संयम आधार रहे।
उसकी धृति है सात्विक अर्जुन! जिसमें अव्यभिचार रहे॥ ३३॥

अर्थ-धर्म-कामेच्छा की आसक्ति बने जिसका बंधन।
उसकी धारण शक्ति राजसी है, अर्जुन-कुंतीनंदन!॥ ३४॥

शक्ति, शोक-भय-मद-विषाद-निद्रा को छोड़ नहीं पाती।
दुष्ट-बुद्धि की, अर्जुन! धारण शक्ति तामसी कहलाती॥ ३५॥

पार्थ! सुनो अब तीन तरह के सुख सर्वदा कहे जाते।
कर अभ्यास रमण का साधक, दुख से सदा मुक्ति पाते॥ ३६॥

विष-सा पहले लगे बाद में जो अमृत बन जाता है।
आत्म बुद्धि का यह प्रसाद ही सात्विक सुख कहलाता है॥ ३७॥

इन्द्रिय विषयों का सुख पहले, सुधा सदृश्य सुहाता है।
विष जैसा परिणाम करे जो, सुख राजसी कहाता है॥ ३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुख मोहनमात्मनः
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

हो आरंभ मोह से जिसका, अंत मोह में हो जाता।
निद्रा-अलस-प्रमाद जनित वह सुख, तामस सुख कहलाता॥ ३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

धरती हो, अंबर हो, देवलोक हो या अन्यत्र कहीं।
प्रकृति जनित इन तीन गुणों से रहित एक भी सत्व नहीं।॥ ४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में बंटा समाज पार्थ! सारा।
प्रकृति जन्य गुण पर आधारित है, कामों का बंटवारा॥ ४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

आस्तिकता, शुद्धता, क्षमा, तप, मन, इंद्रिय का शमन-दमन।
स्वाभाविक द्विजकर्म, सरलता, अध्ययन एवं अध्यापन॥ ४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्य, धैर्य, एश्वर्य, तेज, दक्षता, दान देना भाये।
नहीं पलायन करे, प्राकृतिक क्षात्र कर्म यह कहलाये॥ ४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

वैश्यकर्म स्वाभाविक, गोपालन, खेती, व्यापार करे।
शूद्रकर्म प्राकृतिक, सभी की सेवा, सभी प्रकार करे॥ ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

होती प्राप्त सिद्धि, निज निज कर्मों में, हो यदि तत्परता।
सुनो, कर्म को करके कैसे मानव सिद्धि प्राप्त करता॥ ४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

जो सर्वत्र व्याप्त है, जीव जगत का वही जन्मदाता।
है निज कर्म उसी की पूजा, उससे मनुज सिद्धि पाता॥ ४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्माभूयाय कल्पते॥ ५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

अपना निर्गुण धर्म श्रेष्ठ है, भले लगें परधर्म भले।
पाप न लगता यदि मानव, निज नियत कर्म की राह चले॥ ४७॥

है सदोष फिर भी न पार्थ! हो सहज कर्म का त्याग कभी।
सब कर्मों में दोष, जिस तरह नहीं धुएं बिन आग कभी॥ ४८॥

अनासक्त मति, आत्म नियंत्रण, सभी अशेष कामनाएं।
मनुज श्रेष्ठ निष्कर्म सिद्धि को, सांख्य योग द्वारा पाएं॥ ४९॥

परम सिद्धि से परम ब्रह्म को पाते किस प्रकार समझो।
इस ज्ञान की परानिष्ठा का अर्जुन! सार-सार समझो॥ ५०॥

आत्म नियंत्रण रहे, धैर्य हो, शुद्ध बुद्धि में लीन रहे।
शब्दादि विषय को त्यागे, राग-द्वेष से हीन रहे॥ ५१॥

एकाकी, समुचित भोजन, तन-मन-वाणी को वश करता।
हो वैराग्य सहारा नित प्रति, ध्यान योग में तत्परता॥ ५२॥

काम, क्रोध, बल, दर्प, दम्भ, संचय का भाव समाप्त करे।
ममता-रहित शांत योगी ही, ब्रह्मभाव को प्राप्त करे॥ ५३॥

ब्रह्मभाव पाकर प्रसन्न मन, शेष न शोक, कामनाएं।
सारे जीव समान जिन्हें, वे योगी परा-भक्ति पाएं॥ ५४॥

भक्त्या ममाभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्नयस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेच्चमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छासि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥६२॥

बाद भक्ति के, ''मैं जो हूं जितना हूँ' तत्व ज्ञान पाये।
तत्व-ज्ञान जिसको मिल जाये, वह मुझमें ही मिल जाये॥५५॥

सारे कर्म, सदा मेरा आश्रय ले जो करता जाता।
पाकर मेरी कृपा सनातन, अविनाशी पद को पाता॥५६॥

सभी कर्म मुझको अर्पित कर, मन से मुझ पर निर्भर हो।
बुद्धियोग का आश्रय लेकर, मुझमें चित्त निरंतर हो॥५७॥

चित्त लगा मुझमें, प्रसाद मेरा सब कष्ट समाप्त करे,
अहंकार वश किया अनसुना, सर्वनाश को प्राप्त करे॥५८॥

'मैं न करूंगा युद्ध' दम्भ प्रेरित निश्चय असाध्य होगा।
तू अपने स्वभाव के कारण, करने युद्ध बाध्य होगा॥५९॥

कार्य न जो तू करना चाहे, पार्थ! मोह में फंस करके।
वह, स्वभावगत कर्म बंध, करवा लेगा परवश करके॥६०॥

बैठ हृदय में सभी प्राणियों के, ईश्वर निज माया से।
पार्थ! यंत्रवत भ्रमण कराता, सब जीवों को काया से॥६१॥

सब भावों के साथ उसी ईश्वर की पार्थ! शरण जाओ।
पा प्रसाद शाश्वत पद पाओ, शांति असाधारण पाओ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति। ६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

ज्ञान दिया अतिगुप्त तुम्हें जो, उस पर पूर्ण विचार करो।
आगे क्या करना है, वह निश्चय, इच्छा अनुसार करो॥६३॥

वचन गुप्त एवं हितकारी, कहे गए मेरे द्वारा।
तू मुझको अतिशय प्रिय है, इसलिए कहूंगा दोबारा॥६४॥

बनकर भक्त नमन पूजन कर, मन में लगन लगा लेगा।
तू मुझको प्रिय है, मेरा प्रण है, तू मुझको पा लेगा॥६५॥

सब धर्मों-कर्मों को तजकर, आ तू एक शरण मेरी।
शोक न कर, सारे पापों से दूंगा मुक्ति, बिना देरी॥६६॥

भक्ति नहीं, तप नहीं, श्रवण करने की इच्छा शेष नहीं।
दोष देखते हैं जो उनको, देना यह उपदेश नहीं॥६७॥

गुप्त ज्ञान मेरे भक्तों को, जो प्रेम से सुनायेगा।
इसमें संशय नहीं अंत में, वह मुझको ही पायेगा।॥६८॥

जो मेरा प्रिय कार्य करे, वह मेरा प्रेमपात्र होगा।
वैसा कोई हुआ न होगा, भू पर एकमात्र होगा॥६९॥

धर्म युक्त संवाद हमारा, पढ़ना जिसे लगे प्यारा।
मेरे मत में, मुझे पूजता है वह, ज्ञानयज्ञ द्वारा॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रवण करेगा जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त, द्वेष त्यागे।
श्रेष्ठ लोक पुण्यात्माओं के वह पायेगा बिन मांगे॥ ७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

क्या तूने एकाग्र चित्त से, पार्थ! सुने उपदेश सभी ?
क्या अज्ञान जनित सम्मोहन नष्ट हुआ या शेष अभी ?॥ ७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

बोले पार्थ - कृपा से केशव! अब संदेह न मोह रहा।
स्मृति लौटी, स्थिर हूं, करना है जो आपने कहा॥ ७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले - कृष्णार्जुन, संवाद लोमहर्षणकारी।
अति अद्भुत रहस्यमय, मैंने सुनी वार्ताएं सारी॥ ७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

वेदव्यास की कृपा दृष्टि से, गुप्त योग का ज्ञान सुना।
साक्षात् योगेश्वर हरि को, करते हुए बखान सुना॥ ७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

हे राजन! सम्वाद कृष्ण-अर्जुन का अद्भुत हितकारी।
जितनी बार याद करता हूँ, उतनी बार हर्ष भारी॥ ७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

राजन रूप विलंक्षण हरि का, मन को आकर्षित करता।
बार बार स्मृति में आता बार-बार हर्षित करता॥ ७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहां हैं, अर्जुन जहां धनुर्धारी।
मेरा मत, श्री, विजय वहां, दृढ़ नीति, विभूति वहीं सारी॥ ७८॥

हिंदी गीता के रचनाकार

पं. गोविंद मकरंद दुबे

जन्म – 1946, बनगांव, जिला – दमोह (म.प्र.)
शिक्षा – विधि स्नातक, पत्रकारिता पत्रोपाधि

अत्यंत धार्मिक पारिवारिक पृष्ठभूमि होने से बचपन से ही धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन का अवसर मिला। स्कूली शिक्षा के दौरान गीता, रामायण परीक्षाओं के साथ संस्कृत कोविद उत्तीर्ण। बी.एससी. की पढ़ाई के दौरान कविता संग्रह 'ओस और आंसू' का प्रकाशन। संस्कारधानी से प्रकाशित समाचार पत्र नर्मदा ज्योति, सार-समाचार, नई दुनिया एवं नवभारत में सेवा पश्चात् शासकीय सेवा के दौरान आपूर्ति अधिकारी संघ के प्रांताध्यक्ष के रूप में सांगठनिक उपलब्धियाँ। सेवानिवृत्ति के बाद 15 वर्ष तक अधिवक्ता के रूप में कार्य। इस दौरान 'आवश्यक वस्तु मेन्युअल' के म.प्र. के लिए 9 तथा छ.ग. राज्य के लिए 4 प्रकाशन। कोरोना काल में पत्नी की बीमारी एवं निधन के पश्चात् आध्यात्म की ओर प्रवृत्त। श्रीमद्भगवद्गीता का हिंदी में छंद-रूप में अनुवाद की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन अनुज श्री गोपाल प्रसाद दुबे से प्राप्त। आगे श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कंध के हिंदी काव्य में अनुवाद की योजना।

सम्पर्क – 94251 52599, 88392 53059
E-mail : dubeymakrand@gmail.com

'हिंदी गीता' के सूत्रधार

श्री गोपाल प्रसाद दुबे

जन्म – 1953, बनगांव, जिला – दमोह (म.प्र.)
शिक्षा – बी.एससी., एम.ए.

पारिवारिक पृष्ठभूमि धार्मिक होने के कारण धार्मिक संस्कार तो मिले ही, धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन का भरपूर अवसर मिला। भारतीय संचार निगम लि. में इंजीनियर के रूप में विभिन्न पदों पर रहकर, सहायक जनरल मैनेजर के प्रतिष्ठित पद से सेवानिवृत। सेवा के दौरान अधिकारियों के संगठन में भी विभिन्न पदों पर सांगठनिक कार्य। मां शारदा मैहर की जाग्रत पीठ की असीम कृपा से, सेवानिवृत्ति के पश्चात् पूरी तरह गीता-मानस-ध्यान एवं योग के लिए समर्पित। स्वामी निरंजनानंद सरस्वती योग विश्वविद्यालय से दीक्षा प्राप्त। दिव्य जीवन संघ – ऋषिकेश से योग का प्रशिक्षण लेकर नेहरू नगर दुर्ग में दिव्य जीवन संघ की शाखा – शिवानंद योग निकेतन की इकाई की स्थापना। स्थानीय साधकों को प्रात:कालीन सत्र में प्राणायाम एवं योग का प्रशिक्षण का क्रम वर्ष 2001 से निरंतर जारी। संध्याकाल में मानस-गीता स्वाध्याय सत्र का संचालन वर्ष 2011 से अनवरत् जारी। कोरोना काल से सत्रों का ऑन-लाइन संचालन। परिणामत: देश के कई प्रांतों के साधक एवं चिंतक शामिल। साधकों को प्रतिदिन गीता के दो श्लोक लिखने एवं स्मरण करने की प्रेरणा। इसी दौरान श्रीमद्भगवद्गीता के संस्कृत श्लोकों को पढ़ने में होने वाली कठिनाई को देखते हुए हिंदी में गीता का विचार बना, जिसकी परिणिति इस 'हिंदी गीता' के रूप में हुई।

सम्पर्क – 94252-01501, 95757-44505
E-mail : gopaldubey.1@gmail.com

चार प्रथम पाठक और उनकी प्रतिक्रियायें

मैंने 'हिंदी गीता' के छंदों को पढ़ा और गाया भी। मुझे लगा जैसे भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन के माध्यम से जनसाधारण को दिया गया ज्ञान अब फलीभूत हो रहा है। भगवान की इस वाणी को संस्कृत भाषा की दुरुहता एवं टीकाओं और भाष्यों की बोझिलता से मुक्ति मिल गयी है। गीता के मूल श्लोकों सहित उसी भाव भूमि पर सरल हिंदी में तुकान्त छन्दों में किया गया यह अनुवाद जनसाधारण की आत्मा तक पहुँचेगा, ऐसी आशा है।

पं. रमेश कुमार तिवारी, ख्यात कवि, दमोह (म.प्र.)

श्रीमद्भगवद्गीता वर्षों से हिंदुओं के आस्था और श्रद्धा का केन्द्र रही है किंतु इसके ज्ञान को ग्रहण करने के मार्ग में देववाणी सदैव बाधक रही है और तमाम विद्वानों की टीकाएं, भाष्य और अनुवादों ने गीता को और क्लिष्ट तथा दुरुह बनाया है। 'हिंदी गीता' की सीधी-सरल काव्ययुक्त वाणी पाठक के मन-मस्तिष्क तक उस ज्ञान को सहजता से प्रेषित करती है, जिसके लिए भगवान कृष्ण ने इसे अर्जुन को सुनाया था।

पं. सुधीर दुबे, सेवानिवृत्त आपूर्ति अधिकारी, जबलपुर (म.प्र.)

'हिंदी गीता' को पढ़कर आनंदित हूँ, आल्हादित हूँ और अभिभूत हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता के संस्कृत के श्लोकों को सरल हिंदी छंदों में भावानुवाद करने का दुष्कर कार्य आदरणीय श्री गोविंद मकरन्द दुबे के द्वारा बहुत ही उत्तम रूप से किया गया है। योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण के संदेशों को सहज भाषा में सामान्य हिंदी पाठकों को समझने में 'हिंदी गीता' निश्चित रूप से एक सुलभ माध्यम सिद्ध होगी।

इंजी. गिरीश उपाध्याय, रामेश्वरम् कालोनी, जबलपुर (म.प्र.)

'हिंदी गीता' की रचना के दौरान मैंने अपने पापा का, उपयुक्त सरल हिंदी के शब्द के लिए आग्रह देखा है। इसी का परिणाम है कि 'हिंदी गीता' जनसाधारण के लिए असाधारण रूप से बोधगम्य बन सकी है। हिंदी गीता पढ़कर प्रतीत होता है जैसे ज्ञान का अमृत, देववाणी के कंचन-कलश से सामान्य पाठक की अंजलि तक निस्रत हो रहा हो।

श्रीमती देविना बाजपेयी, अधिवक्ता, भोपाल (म.प्र.)